बुद्धवाणी

वियोगी हरि

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

•

आठवीं बार : १९७९
मूल्य :

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस;
रोहतास नगर, शाहदरा,
दिल्ली-३२

प्रकाशकीय

हमें हर्ष है कि 'बुद्ध वाणी' का आठवां संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। बौद्ध साहित्य की ओर हिन्दी जगत की अभिरुचि बराबर बढ़ रही है और यही कारण है कि आज हिन्दी में बहुत-सा बौद्ध साहित्य उपलब्ध है। 'मण्डल' से ही कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान बुद्ध की चुनी हुई सूक्तियों को विषयवार संकलित किया गया है, जिससे एक विषय की सारी सामग्री एक ही स्थान पर मिल जाती है।

यह संग्रह संत-साहित्य के मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि ने किया है। संत-साहित्य उनका बहुत ही प्रिय विषय है और उसका उन्होंने अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि उसे दैनिक चिंतन का अंग बना लिया है। बौद्ध साहित्य का विशद अध्ययन करके उन्होंने इस पुस्तक की मूल्यवान सामग्री को चुना है और उसे पाठकों के लिए सुलभ कराकर, निश्चय ही लोकहित की दृष्टि से बड़ा काम किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए स्टार पेपर मिल्स लि० के श्री शिवशंकर बाजोरिया ने आंशिक सहायता दी है। इसी से पुस्तक का मूल्य इतना कम रखना संभव हो सका है। हम उनके आभारी हैं।

हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक पहले से भी अधिक लोकप्रिय होगी।

—मंत्री

ग्रन्थ संकेत-निर्देश

म. नि.	=	मज्झिम निकाय (राहुल सांकृत्यायन)
दी. नि.	=	दीर्घ निकाय
अं. नि.	=	अंगुत्तर निकाय
सं. नि.	=	संयुत्त निकाय
ध. प.	=	धम्मपद
सु. नि.	=	सुत्त निपात (धर्मानन्द कौसांबी—गुजराती संस्करण)
बु. च.	=	बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन)
बु. ली.	=	बुद्धलीला (धर्मानन्द कौसांबी—गुजराती संस्करण)
बु. दे.	=	बुद्धदेव (जगमोहन वर्मा)

प्रस्तावना

आचार्य काका कालेलकर ने एक जगह लिखा है, "बुद्ध भगवान की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है, विशेष रीति से पोषक है।" संसार में आज हर चीज का बड़ी बारीकी से विश्लेषण हो रहा है। विश्लेषण की कसौटी पर चीज खरी नहीं उतरती, उसे अपनाने क्या, छूने तक में दुनिया अब आनाकानी करने लगी है। मानवता के मूल में ओत-प्रोत धर्म फिर इस व्यापक छानबीन से, इस बौद्धिक क्रांति से अछूता कैसे रह सकता था? संसार के छोटे-बड़े धर्म-मजहबों का भी इधर कुछ वर्षों से स्वतन्त्र दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन होने लगा है और इसीसे काका सा० कालेलकर ने वर्तमान शताब्दी को 'धर्म-मंथन-काल' कहा है। आज इस धर्म-मंथन-काल में इलहाम का 'आर्डिनेंस' मानने को मनुष्य की आत्मा तैयार नहीं, यद्यपि कभी-कभी अंध-अश्रद्धावश आवेश में वह अविवेक का भी प्रदर्शन कर बैठती है। शुद्ध बौद्धिक कसौटी पर कसते समय यह देखा जाता है कि वह धर्म समभाव और समन्वय का कहां तक समर्थक है, वैषम्य और द्वेष की आग को यह उत्तेजन तो नहीं दे रहा है और सर्वसाधारण का 'कल्याण' उसके द्वारा कहां तक सम्पादित होता है। किन्तु इस धर्मतुला को मैं एकदम नई कसौटी कहने के पक्ष में नहीं हूं। धर्म की यह तराजू उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन हमारी प्रज्ञा है। कई सदियों तक हमारे अधर्म-मूलक दुराग्रह ने इस अनमोल चीज को ओझल जरूर कर रखा था और कुछ अंशों में आज भी कर रहा है, पर जगत् के क्रांतदर्शी संतों और महापुरुषों ने अपना शोधन-कार्य तो सदा जारी ही रखा। समय-समय पर उन्होंने मनुष्य की बुद्धि पर पड़ा हुआ वह विभेदक पर्दा उठाया और उससे कहा, "देख, धर्म का सच्चा सनातन रूप यह है, एष धर्मः सनातनः।" भगवान् बुद्ध ने तो अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कह दिया था

कि "आओ, और अपनी 'प्रज्ञा की आंख से' धर्म को देखो—एहि पश्यक धर्म !" यही कारण है कि बुद्ध भगवान की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है और विशेष रीति से पोषक है।

जहां अन्य धर्मों ने पात्र में रखी जानेवाली 'वस्तु' के विवेचन में अपने दार्शनिक ज्ञान की सारी पूंजी खर्च कर डाली है, वहां बौद्धधर्म में पात्र की सम्यक् शुद्धि पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है और यही इस मानव-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है और इसीसे आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इस कल्याण-मूलक धर्म में समान समाधान पाते हैं। कोई विवाद नहीं, कोई कलह नहीं। अष्टांगिकमार्गी या अन्तःबुद्धि का साधक द्वेषमूलक वाद-विवाद से अलग ही रहेगा। मैत्री, मुदिता,उपेक्षा और करुणा के शीतल जल में जिस मनुष्य ने अपना रोम-रोम भिगो लिया है, वह विवाद, द्वेष, परिग्रह और कलह की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह किसके साथ तो राग करे और किसके साथ द्वेष ?

यह सही है कि रूढ़िप्रिय मनुष्य की अंतड़ियों के घातक फोड़े में बुद्ध भगवान ने नश्तर लगाया था और उससे वह एक वार क्रुद्ध हो चीख उठा था, पर वहां भी भगवान की असीम करुणा को शल्याबद्ध मनुष्य के अन्तर की पीड़ा हरनी थी, उसका सारा सड़ा मवाद निकालना था, उसका हृदयघट शुद्ध करना था। रोगी के प्रलाप और अभिशाप से भगवान् डर जाते, तो उसे 'ब्रह्म-विहार' का आनन्द-लाभ कैसे होता है ? पीछे, जब आंखें खुलीं, तो अपने महाकारुणिक चिकित्सक को उसने जगत् का उद्धारक ही नहीं, ईश्वर का अवतार तक माना और उसकी श्रद्धावनत अन्तरात्मा से बरबस ये शब्द निकल पड़े :

बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि.

समय के फेर से बौद्धधर्म आज अपनी जन्मभूमि भारत में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा लोप हो गया है। हमारे राष्ट्र पर, हमारे जीवन पर, आज भी उस महान्

मानव-धर्म की अमिट छाप लगी हुई है। भले ही हम अपने को प्रत्यक्ष में बौद्ध न कहें, पर बौद्धधर्म का प्रेरणाप्रद प्रभाव हम भारतवासियों के जीवन में परोक्षत: कुछ-न-कुछ काम तो कर ही रहा है। प्रयाग में आज तीसरी नदी का प्रत्यक्ष दर्शन कहां होता है, पर त्रिवेणी के एक-एक कण का महत्व और अस्तित्व उस लुप्तधारा सरस्वती की ही बदौलत बना हुआ है।

पर इस तरह आत्म-संतोष कर लेने से काम नहीं चलेगा। भगवान बुद्ध का हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। बौद्ध वाङ्मय के प्रति हमारी यह उदासीनता सचमुच अक्षम्य है। हमारी राष्ट्रभाषा का बौद्धसाहित्य के प्रकाशन में तीसरा नंबर आता है। यह हमारे लिए भारी लज्जा और दु:ख का विषय नहीं तो क्या है? बंगभाषा का बौद्धसाहित्य के प्रकाशन में प्रथम स्थान है। उसके बाद स्यात मराठी का नंबर है। मराठी में आचार्य धर्मानन्द कौसांबी ने बड़ी योग्यता और विद्वत्तापूर्वक अनेक पाली ग्रंथों का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया है। कौसाम्बी के कुछ बौद्ध ग्रंथों का गुजराती भाषान्तर भी प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी में तो कुछ साल पहले, सिवा चार-पांच बुद्ध-जीवनियों और धम्मपद के तीन-चार अनुवादों के, कुछ था ही नहीं। इधर बेशक इस दिशा में हिन्दी ने अच्छी प्रगति की है। महापंडित त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन ने समस्त 'त्रिपिटक' (सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक) का हिन्दी अनुवाद करने का निश्चय किया। 'मज्झिम-निकाय' का अनुवाद तो प्रकाशित भी हो गया। श्री सांकृत्यायनजी द्वारा सम्पादित आचार्य वसुबंधुरचित 'अभिधर्मकोश' भी प्रकाशित हो चुका है। यदि यही क्रम जारी रहा तो श्री सांकृत्यायनजी के कथनानुसार मूल बौद्धसाहित्य के अनुवाद में हिन्दी का स्थान भारतीय भाषाओं में ही प्रथम नहीं हो जायेगा, बल्कि हमारी मातृभाषा यूरोपीय भाषाओं से टक्कर लेने लगेगी।

अब दो शब्द प्रस्तुत पुस्तक पर। धम्मपद का मैं एक जमाने से भक्त हूँ। इधर श्री धर्मानन्द कौसाम्बी और श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुवादित ग्रंथ देखकर मैं 'कुसलस्स उपसम्पदा'—वाले बुद्ध शासन पर मुग्ध हो गया हूँ। 'सुत्तनिपात' को बार बार पढ़ा, तो भी तृप्ति नहीं

हुई। पुस्तक पढ़ते समय अपने अत्यन्त प्रिय स्थलों पर निशान लगाने की मेरी पुरानी आदत है। पढ़ते-पढ़ते मुझे सूझा कि भगवान बुद्ध की सूक्तियों का लगे हाथों एक छोटा-सा विषयवार संग्रह क्यों न कर डाला जाय ? मित्रों में चर्चा की तो उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया। उसी इच्छा और प्रोत्साहन का परिणाम यह 'बुद्ध-वाणी' नामक सूक्ति-संग्रह है।

आरम्भ में आर्य-सत्य-चतुष्टय, अष्टांगिक मार्ग, स्मृत्युपस्थान आदि बौद्धधर्म के मूल विषय कदाचित पाठकों को ऊपर से कुछ नीरस-से लगें, पर थोड़ा मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे, तो इन दार्शनिक सूक्तियों में उन्हें आत्म-तृप्तिकर आनन्द-रस मिले बिना न रहेगा। अन्त में 'सूक्तिकण' एक खंड दिया है, जिसमें विविध विषयों की सूक्तियों का संग्रह किया गया है। पाठकों से मेरा आग्रह है कि सूक्ति-कण को वे अवश्य आद्योपांत पढ़ें।

कौन सूक्ति किस ग्रंथ से ली गई है। इसका निर्देश मैंने प्रत्येक सूक्ति-संग्रह-विभाग के अन्त में कर दिया है। पुस्तक के अन्त में बौद्ध-साहित्य में प्रयुक्त खास-खास पारिभाषिक शब्दों का एक संक्षिप्त कोश भी दे दिया है।

'बुद्ध-वाणी' ने लोगों के हृदय में यदि बौद्ध वाङ्मय के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने की थोड़ी भी लालसा जगाई, तो मैं अपना यह तुच्छ प्रयास सफल समझूंगा।

—वियोगी हरि

विषय-निर्देश

●

बुद्ध-वाणी

: १ :

बुद्ध-शासन

१. सारे पापों का न करना, 'कुशल धर्मों', अर्थात् पुण्यों का संचय करना और अपना चित्त परिशुद्ध रखना—यही बुद्धों की शिक्षा है।

... ...

२. बुद्धों की यह शिक्षा है :

(१) निंदा न करना;

(२) हिंसा न करना;

(३) आचार-नियम द्वारा अपने को संयत रखना;

(४) मित भोजन करना;

(५) एकान्त में वास करना;

(६) चित्त को योग में लगाना।

---

१. सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं, एत बुद्धानसासनम् ।।

२. अनूपवादो, अनूपघातो, पातिमोक्खे व संवरो;
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मि पतञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धानसासनं ।।

१—२. ध. प. (बुद्धवग्गो)

: २ :

महामंगल

१. मूर्खों के सहवास से दूर रहना, सत्पंडितों का सत्संग करना और पूज्य जनों को पूजना ही उत्तम मंगल है।

२. अनुकूल प्रदेश का वास, पूर्वजन्म के पुण्य और सन्मार्ग में मन की दृढ़ता—यही उत्तम मंगल है।

३. विद्या और कला का संपादन, सद्व्यवहार का अभ्यास तथा सुभाषण—यही उत्तम मंगल है।

४. माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्रादि की संभाल और व्यवस्थित रीति से किये हुए कर्म—यही उत्तम मंगल है।

५. आदर, नम्रता, संतुष्टि, कृतज्ञता और समय-समय पर सद्धर्म का सुनना—यही उत्तम मंगल है।

६. क्षमा, मधुर भाषण, संतों का सत्संग और समय-समय पर धर्म-चर्चा—यही उत्तम मंगल है।

७. तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों[1] का ज्ञान तथा निर्वाणपद का साक्षात्कार—यही उत्तम मंगल है।

---

१. दुःख, दुःख-समुदाय, दुःख-निरोध, दुःख-निरोध का मार्ग इन चार सत्यों को भगवान बुद्ध ने 'आर्यसत्य-चतुष्टय' कहा है।

१—७. सु. नि. (महामंगल सुत्त)

: ३ :

आर्यसत्य-चतुष्टय

१. पहला आर्यसत्य दुःख है। जन्म दुःख है, जरा दुःख है, व्याधि दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रिय का मिलना दुःख है, प्रिय का बिछुड़ना दुःख है, इच्छित वस्तु का न मिलना दुःख है। संक्षेप में, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, यह पंचोपादान स्कंध (समुदाय) ही दुःख है।

२. दुःख समुदाय नाम का दूसरा आर्यसत्य, यह तृष्णा है, जो पुनर्भवादि दुःख का मूल कारण है। यह तृष्णा राग के साथ उत्पन्न हुई है। सांसारिक उपभोगों की तृष्णा, स्वर्गलोक में जाने की तृष्णा और आत्महत्या करके संसार से लुप्त हो जाने की तृष्णा, इन तीन तृष्णाओं से मनुष्य अनेक तरह का पापाचरण करता है और दुःख भोगता है।

३. तीसरा आर्य सत्य दुःखनिरोधहै। यह प्रतिसर्गमुक्त और अनालय है। तृष्णा का निरोध करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, देहदंड या कामोपभोग से मोक्षलाभ होने का नहीं।

४. चौथा आर्यसत्य दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है। इसी आर्यसत्य को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। वे अष्टांग ये हैं :

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन,
(४) सम्यक् कर्मांत, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम,
(७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक् समाधि।

दुःख का निरोध इसी मार्ग पर चलने से होता है।

५. दुःख नामक पहला आर्यसत्य पूर्व समय में कभी नहीं सुना गया

था। यह दुःख नामक आर्यसत्य परिज्ञेय है।

६. दुःखसमुदाय नाम का दूसरा आर्यसत्य पूर्व समय में कभी नहीं सुना गया था। यह दुःखसमुदाय नाम का आर्यसत्य त्याज्य है।

७. दुःखनिरोध नाम का तीसरा आर्यसत्य पूर्व समय में कभी नहीं सुना गया था। वह दुःखनिरोध नाम का आर्यसत्य साक्षात्करणीय कर्तव्य है।

८. दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा नाम का चौथा आर्यसत्य पूर्व समय में नहीं सुना गया था। यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा नामक आर्य-सत्य भावना करने योग्य है।

९. इस 'आर्यसत्य चतुष्टय' से मेरे अन्तर में चक्षु, ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक की उत्पत्ति हुई।

१०. जबसे मुझे इन चारों आर्यसत्यों का यथार्थ सुविशुद्ध ज्ञानदर्शन हुआ, मैंने देवलोक में, मारलोक में, श्रवणजगत और ब्राह्मणीय प्रजा में, देवों और मनुष्यों में यह प्रकट किया कि मुझे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि[1] प्राप्त हुई और मैं अभिसंबुद्ध हुआ, मेरा चित्त निर्विकार और विमुक्त हो गया और अब मेरा अन्तिम जन्म है।

११. परिव्राजक को इन दो अन्तों (अतिसीमा) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौन हैं? पहला अन्त है काम-वासनाओं में काम-सुख के लिए लिप्त होना। यह अन्त अत्यंत हीन, ग्राम्य, निकृष्ट जनों के योग्य, अनार्य्य और अनर्थकारी है। दूसरा अन्त है शरीर को दंड देकर दुःख उठाना। यह भी अनार्यसेवित और अनर्थयुक्त है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग (अष्टांगिक मार्ग) ग्रहण करना चाहिए। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षुदायिनी और ज्ञानप्रदायिनी है। इससे उपशम, अभिज्ञान, संबोधन और निर्वाण प्राप्त होता है।

---

१. परमज्ञान, मोक्षज्ञान

२—११. बु. च. (धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र)

: ४ :

अष्टांगिक मार्ग

१. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ये आर्य अष्टांगिक मार्ग हैं।

२. सम्यक् दृष्टि—दु:ख का ज्ञान, दु:खोदय का ज्ञान, दु:ख-निरोध का ज्ञान और दु:ख-निरोध की ओर ले जानेवाले मार्ग का ज्ञान, इस आर्यसत्य-चतुष्टय के सम्यक् ज्ञान को सम्यक् दृष्टि कहते हैं।

३. सम्यक् संकल्प—निष्कर्मता-सम्बन्धी, अर्थात् अनासक्ति-सम्बन्धी संकल्प, अहिंसा-सम्बन्धी संकल्प और अद्रोह-सम्बन्धी संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं।

४. सम्यक् वचन—असत्य वचन छोड़ना, पिशुन वचन अर्थात् चुगलखोरी छोड़ना, कठोर वचन छोड़ना और बकवाद छोड़ना सम्यक् वचन हैं।

५. सम्यक् कर्मांत—प्राणिहिंसा से विरत होना, बिना दी हुई वस्तु न लेना और कामोपभोग के मिथ्याचार (दुराचार) से विरत होना ही सम्यक् कर्मांत हैं।

६. सम्यक् आजीव—आजीविका के मिथ्या साधनों को छोड़कर अच्छी-सच्ची आजीविका से जीवन व्यतीत करना सम्यक् आजीव है।

७. सम्यक् व्यायाम—'अकुशल' धर्म अर्थात् पाप उत्पन्न न होने देने के लिए निश्चय करना, परिश्रम करना, उद्योग करना, चित्त को पकड़ना और रोकना तथा कुशल धर्म, अर्थात् सत्कर्म की उत्पत्ति,

स्थिति, विपुलता और परिपूर्णता के लिए निश्चय, उद्योग आदि करना ही सम्यक् व्यायाम है।

८. सम्यक् स्मृति—अशुचि, जरा मृत्यु आदि दैहिक धर्मों का अनुभव करना तथा उद्योगशील अनुभवज्ञानयुक्त हो, लोभ और मानसिक संताप को छोड़कर जगत में विचरना ही सम्यक् स्मृति है।

९. सम्यक् समाधि—कुशल धर्मों अर्थात् सन्मनोवृत्तियों में समाधान रखना ही सम्यक् समाधि है।

१०. इस सम्यक् समाधि की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और ध्यानरूपी चार सीढ़ियां हैं।

पहले ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति (प्रमोद) सुख और एकाग्रता होते हैं।

दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार का लोप हो जाता है; प्रीति, सुख और एकाग्रता ये तीन मनोवृत्तियां ही रहती हैं।

तीसरे ध्यान में प्रीति का लय हो जाता है; केवल सुख और एकाग्रता ही रहती है।

चौथे ध्यान में सुख भी लुप्त हो जाता है; उपेक्षा और एकाग्रता ही रहती है।

११. अमृत की ओर ले जानेवाले मार्गों में अष्टांगिक मार्ग परम मंगलमय मार्ग है।

१२. दुःख आर्यसत्य, दुःख-समुदाय आर्यसत्यों, दुःखनिरोध आर्यसत्य और दुःखनिरोधगामी मार्ग आर्यसत्य, इन चार आर्यसत्यों का ज्ञान न होने से युगानुयुगों तक हम सब लोक संसृति के पाश में बंधे पड़े थे, किंतु अब इन आर्यसत्यों का बोध होने से हमने दुःख की जड़ खोद निकाली है और हमारा पुनर्जन्म से छुटकारा हो गया है।

१—१०. दी. नि. (महासतिपट्ठान सुत्त) ११. म. नि. (मागंदिय सुत्त) १२. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

: ५ :

जागृति के चार साधन

(चार स्मृत्युपस्थान)

१. शुद्ध होने के लिए, शोक और दुःख से तरने के लिए, दौर्मनस्य (मानसिक दुःख) का नाश करने के लिए, सन्मार्ग प्राप्त करने के लिए और निर्वाणपद का साक्षात करने के लिए चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग ही एकमात्र सच्चा मार्ग है।

२. चार स्मृति-उपस्थान ये हैं :

(१) अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;
(१) वेदना का[1] यथार्थ रीति से अवलोकन करना;
(३) चित्त का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;
(४) मनोवृत्तियों का यथार्थ रीति से अवलोकन करना।

ये चार स्मृति-उपस्थान अर्थात् जागृति के श्रेष्ठ साधन हैं।

३. अरण्य में वृक्ष के नीचे अथवा एकांत में पालथी मारकर गर्दन से कमर तक शरीर सीधा रखकर, भिक्षु जागरूक रहकर श्वास खींचता है और प्रश्वास बाहर निकालता है, उसका आश्वास और प्रश्वास दीर्घ है या ह्रस्व, इसकी उसे पूर्ण स्मृति होती है; जागृतिपूर्वक वह अपने प्रत्येक आश्वास-प्रश्वास का अभ्यास करता है।

जिस प्रकार वह आश्वास और प्रश्वास को सम्यक् रीति से जानता है,

---

१. इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने के बाद जो दुःख-सुख आदि अनुभव होता है।

उसी प्रकार वह अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

४. चलते समय वह यह स्मरण रखता है कि 'मैं चल रहा हूँ'; खड़ा होता है तो 'मैं खड़ा होता हूं' यह स्मरण रखता है; जब बैठा होता है तब यह स्मरण रखता है कि 'मैं बैठा हूं', लेटा होता है तो 'मैं लेटा हूं' यह स्मरण रखता है। उसे देह की समस्त क्रियाओं का ज्ञान होता है।

इस तरह वह अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

५. वह अपनी देह का नख से शिखा तक अवलोकन करता है। केश, रोम, नख, दांत, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, मूत्राशय, कलेजा, यकृत, तिल्ली, फेफड़े, आंत, अंतड़ियां, विष्ठा, पित्त, कफ, पीव, रक्त, पसीना, मेद, आंसू, चर्बी, थूक, लार और मूत्र ऐसी-ऐसी अपवित्र चीजें इस देह में भरी हुई हैं।

कायानुपश्यी योगी अपनी देह में भरे हुए इन तमाम अपवित्र पदार्थों का उसी प्रकार एक-एक करके अवलोकन करता है, जिस प्रकार कि हम विविध अनाजों की पोटली को खोलकर देख सकते हैं कि इसमें चावल है, यह मूंग है, यह उड़द है, यह तिल है, और यह धान है।

६. वह कायानुपश्यी भिक्षु मरघट में जाकर अनेक तरह के मुर्दों को देखता है। कोई मुर्दा सूजकर मोटा हो गया है, किसी को कौओं, कुत्तों और सियारों ने खाकर और नोच-नोचकर छिन्न-भिन्न कर डाला है, तो किसी की केवल शंख-सी सफेद हड्डियां ही पड़ी हुई हैं। ऐसे भयावने मुर्दों की तरफ देखकर वह यह विचार करता है कि 'मेरी देह की भी एक दिन यही गति होनी है। यह हो नहीं सकता कि मेरी देह इस नश्वर स्थिति से मुक्त हो जाय।'

वह यह स्मरण रखता है कि यह देह जब पैदा हुई है, तब एक-न-एक दिन तो इसका नाश होगा ही। देह नाशवान् है, इसका उसे हमेशा स्मरण रहता है।

वह अनासक्त हो जाता है। दुनिया में किसी भी वस्तु की उसे आसक्ति नहीं रहती।

इस प्रकार वह अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

७. कोई भिक्षु अपनी वेदनाओं का यथार्थ रीति से अवलोकन करता

है। जब वह सुखकारी वेदना का अनुभव करता है, तो वह समझता है कि मैं सुखद वेदना का अनुभव कर रहा हूं।

और जब दुःखकारी वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि दुःखद वेदना का अनुभव कर रहा हूं।

जब वह सुख-दुःख रहित वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि मैं सुख-दुःख-रहित वेदना का अनुभव कर रहा हूं।

उसे इस बात का स्मरण रहता है कि वह इस वेदना का लोभ से अनुभव कर रहा है या अलोभ से।

इस प्रकार वह आन्तरिक और बाह्य वेदना का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। वह देखता है कि वेदना जब पैदा हुई है तब उसका नाश अवश्य होगा।

उसे स्मरण रहता है कि उसके शरीर में वेदना है।

स्मृति और ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह वेदनापनुश्यी योगी अनासक्त हो जाता है। इस लोक की वस्तु में वह आसक्ति नहीं रखता।

८. कोई भिक्षु अपने चित्त का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। मेरा चित्त सकाम है या निष्काम, सद्वेष है या विगतद्वेष, समोह है या वीतमोह, संक्षिप्त है या विक्षिप्त, समाहित (एकाग्र) है या असमाहित, विमुक्त है या अविमुक्त, आदि सभी अवस्थाओं को वह जानता है। इस प्रकार वह अपने और पराये चित्त का अवलोकन करता है।

वह जानता है कि चित्त का स्वभाव चंचल है।

इस प्रकार वह चित्तानुपश्यी भिक्षु चित्त का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

९. कोई भिक्षु अपनी मनोवृत्ति का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। वह इस बात की ठीक-ठीक शोध करता है कि उसके अन्तःकरण में कामविकार, द्वेष-बुद्धि, आलस्य, अस्वस्थता और संयम, ये ज्ञान के पांच आवरण हैं या नहीं।

इन आवरणों की उत्पत्ति कैसे होती है, इनके उत्पन्न होने पर इनका विनाश किस तरह होता है और इनके फिर से उत्पन्न न होने का क्या उपाय है, इन सबको वह जानता है।

इस प्रकार इन पांच मनोवृत्तियों का वह यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

१०. फिर वह पांच स्कंधों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पांच स्कंधों का उदय और अस्त कैसे होता है, यह वह जानता है।

इस प्रकार वह धर्मानुपश्यी भिक्षु आभ्यंतर और बाह्य स्कंधों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

११. फिर वह चक्षु, रूप इत्यादि आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। चक्षु और रूप, कर्ण और शब्द; नासा और गन्ध, त्वचा और स्पर्श, मन और मनोवृत्ति इनके संयोग से कौन-कौन-से संयोजन पैदा होते हैं, और उनके उत्पन्न होने पर उन संयोजनों का नाश कैसे होता है, और संयोजन फिर उत्पन्न न हों, इसका क्या उपाय है, इस सबको वह जानता है।

१२. फिर वह सात बोध्यंगों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। स्मृति, धर्मप्रविचय (धर्मसंचय), वीर्य (उद्योग), प्रीति, प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा ये सात धर्म मेरे अन्तःकरण में हैं या नहीं यह वह जानता है। यदि नहीं हैं, तो संबोध्यंग किस प्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं, और उत्पन्न हुए संबोध्यंगों की भावना किस प्रकार पूरी होती है, यह सब वह जानता है।

इस प्रकार वह भिक्षु आध्यात्मिक और बाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

१३. इसके अतिरिक्त वह भिक्षु चार आर्य-सत्यों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

यह दुःख है, यह दुःख का समुदाय है, यह दुःख का निरोध है और यह दुःख-निरोध का मार्ग है, यह वह यथार्थ रीति से जानता है।

इस प्रकार यह भिक्षु आध्यात्मिक और बाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

१४. इन चार स्मृति-उपस्थानों की ऊपर कहे अनुसार सात वर्ष तक भावना करने से भिक्षु को अर्हत्पद की प्राप्ति हो जायगी। अधिक नहीं

तो, वह 'अनागामी' तो हो ही जायगा, फिर इस लोक में जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

१५. सात वर्ष जाने दो, ऊपर कहे अनुसार जो भिक्षु इन चार स्मृति-उपस्थानों की भावना छह वर्ष, पांच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष, एक वर्ष, इतना भी नहीं, तो सात मास, छह मास, पांच मास चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास या सात ही दिन यथार्थ रीति से करेगा, तो उसे 'अर्हत्पद' की प्राप्ति हो जाएगी—और नहीं तो वह 'अनागामी' तो हो ही जाएगा।

१६. इन चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग शोक और कष्ट के उपशमन के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के आक्रमण के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए ही एकमात्र मार्ग है।

१—१६. म. नि. (सतिपट्ठान सुत्त)

: ६ :

सप्त धर्मरत्न

१. धर्म के इन सात रत्नों को तुम लोग अवश्य धारण करो—(१) स्मृत्युपस्थान, (२) सम्यक् प्रधान (प्रयत्न), (३) ऋद्धिपाद, (४) इंद्रिय, (५) बल, (६) बोध्यंग और (७) मार्ग।

२. स्मृत्युपस्थान चार प्रकार का है—(१) शरीर के प्रति जागरूक रहना, (२) वेदनाओं के प्रति जागरूक रहना, (३) चित्त के प्रति जागरूक रहना, (४) धर्मों के प्रति जागरूक रहना। इन चारों के स्मरण और भावना को चतुर्विधि स्मृत्युपस्थान कहते हैं।

३. सम्यक् प्रधान चार प्रकार का है—(१) सद्‌गुणों का संरक्षण, (२) अलब्ध सद्‌गुण का उपार्जन, (३) दुर्गुणों का परित्याग और (४) नूतन दुर्गुणों की अनुत्पत्ति का प्रयत्न।

४. ऋद्धिपाद अर्थात् असाधारण क्षमता की प्राप्ति के लिए (१) दृढ़ संकल्प, (२) चिंता अथवा उद्योग, (३) उत्साह और (४) आत्म-संयम करना।

५. इन्द्रियां पांच हैं (१) श्रद्धा, (२) समाधि, (३) वीर्य, (४) स्मृति और (५) प्रज्ञा।

६. बल भी पांच हैं—(१) श्रद्धाबल, (२) समाधिबल, (३) वीर्य-बल, (४) स्मृतिबल और (५) प्रज्ञाबल।

७. बोध्यंग सात हैं—(१) स्मृति, (२) धर्मप्रविचय (धर्मान्वेषण) या पुण्य, (३) वीर्य, (४) प्रीति, (५) प्रश्रब्धि अर्थात शांति, (६) समाधि और (७) उपेक्षा।

८. मार्ग आठ अंगोंवाला है—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।

९. इन सैंतीस पदार्थों को लेकर मैंने धर्म की व्यवस्था की है। इन्हें मैंने 'सप्तत्रिंशत शिक्षमाण धर्म' कहा है।

१—९. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

: ७ :

ब्रह्म-विहार

१. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्म-विहार' कहते हैं।

२. मैत्रीपूर्ण चित्त से, करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो भिक्षु चारों दिशाओं को व्याप्त कर देता है, सर्वत्र समस्त जगत् को अवैर अद्वेषमय चित्त से भर देता है, उसे मैं 'ब्रह्म-प्राप्त' भिक्षु कहता हूं।

३. मैत्रीचित्त विमुक्ति की प्रेमपूर्वक इच्छा करने से, भावना करने से, अभिवृद्धि करने से, स्थापना करने से, उसका अनुष्ठान करने से और उसे उत्साहपूर्वक अंगीकार करने से मनुष्य को ये ग्यारह लाभ होते हैं:

वह सुखपूर्वक सोता है; सुख से जागता है; बुरे स्वप्न नहीं देखता; सबका प्रिय होता है; भूत-पिशाचों का भय नहीं रहता; देवता उसकी रक्षा करते हैं; अग्नि, विष या हथियार उसपर कोई असर नहीं कर सकते; चित्त तुरंत एकाग्र हो जाता है; मुख की कांति अच्छी रहती है; शांति से मरता है; और निर्वाण न भी मिले, तो भी मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक को तो जाता ही है ?

४. भिक्षुओ, मैं जानकर ही जान-बूझकर किये गए कर्मों के अंत करने की बात कहता हूं, वह इसी जन्म में हो अथवा भविष्य में हो। अत: आर्यश्रावक (गृहस्थ) लोभ से, द्वेष से और मोह से विमुक्त होकर सचेत अंत:करण के द्वारा मैत्रीयुक्त चित्त से, करुणायुक्त चित्त से, मुदिता-युक्त चित्त से और उपेक्षायुक्त चित्त से चारों दिशाओं को अभिव्याप्त कर

देता है; अखिल जगत को अवैर और द्वेषरहित मैत्रीसहगत चित्त से अभिव्याप्त कर देता है।

वह समझता है कि पूर्व में इन भावनाओं के न करने से मेरा चित्त संकुचित था। पर अब उत्तम रीति से इस मैत्री-भावना, इस करुणा-भावना, इस मुदिता-भावना और इस उपेक्षा-भावना के करने से वह असीम और अनंत हो गया है। जो भी मर्यादित कर्म मेरे हाथ से हुआ होगा, वह अब इन अमर्यादित भावनाओं के कारण शेष नहीं रह सकता, वह इन भावनाओं के सामने टिक नहीं सकता।

५. मनुष्य यदि छुटपन से ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा-चित्तविमुक्ति की भावना करे, तो उसके हाथ से पापकर्म होगा ही क्यों? और वह पाप नहीं करेगा, तो फिर उसे दुःख क्यों भोगना पड़ेगा?

६. यह मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाचित्त-विमुक्ति की भावना क्या पुरुष, क्या स्त्री, सभी को करनी चाहिए।

१—२. अं. नि. (चतुक्कनिपात) ३. अं. नि. (मेत्तसुत्त) ४—६. अं. नि. (दसक निपात; करज काय वग्गो)

: ८ :

सत्य

१. असत्यवादी नरकगामी होते हैं, और वे भी नरक में जाते हैं, जो करके 'नहीं किया' कहते हैं।

२. जो मिथ्याभाषी हैं, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता।

३. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसका साधुपना औंधे घड़े के समान है; साधुता की एक बूंद भी उसके हृदय-घट के अन्दर नहीं।

४. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, वह कोई भी पाप कर सकता है। इसलिए तू यह हृदय में अंकित कर ले, कि मैं हंसी-मजाक में भी कभी असत्य नहीं बोलूंगा।

५. जितनी हानि शत्रु शत्रु की और वैरी वैरी की करता है, मिथ्या मार्ग का अनुगमन करनेवाला चित्त उससे कहीं अधिक हानि पहुंचाता है।

६. सभा में, परिषद में अथवा एकांत में किसी से झूठ न बोले, झूठ बोलने के लिए दूसरों को प्रेरित न करे, न झूठ बोलनेवाले को प्रोत्साहन दे—असत्य का सर्वांश में परित्याग कर देना चाहिए।

७. अगर कोई हमारे विरुद्ध झूठी गवाही देता है, तो उससे हमें अपना भारी नुकसान हुआ मालूम होता है। इसी तरह अगर असत्य-भाषण से मैं दूसरों की हानि करूँ, तो क्या वह उसे अच्छा लगेगा? ऐसा विचार करके मनुष्य को असत्य-भाषण का परित्याग कर देना चाहिए, और दूसरों को भी सत्य बोलने का उपदेश करना चाहिए। सदा ईमानदारी की सराहना करनी चाहिए।

८. असत्य का कदापि सहारा न ले। न्यायाधीश ने गवाही देने

के लिए बुलाया हो तो वहां भी जो देखा है, उसी को कहे, कि 'मैंने देखा है' ; और जो बात नहीं देखी, उसे 'नहीं देखी' ही कहे।

९. सत्यवाणी ही अमृतवाणी है ; सत्यवाणी ही सनातनधर्म है। सत्य, सदर्थ और सद्धर्म पर संतजन सदैव दृढ़ रहते हैं।

१०. सत्य एक ही है, दूसरा नहीं। सत्य के लिए बुद्धिमान लोग विवाद नहीं करते।

११. ये लोग भी कैसे हैं! साम्प्रदायिक मतों में पड़कर अनेक तरह की दलीलें पेश करते हैं, और सत्य और असत्य दोनों का ही प्रतिपादन कर देते हैं! अरे सत्य तो जगत में एक ही है, अनेक नहीं।

१२. जो मुनि है, वह केवल सत्य को ही पकड़कर और दूसरी सब वस्तुओं को छोड़कर संसार-सागर के तीर पर आ जाता है। उसी सत्य-निष्ठ मुनि को हम शांत कहते हैं।

१—२. ध. प. (निरय वग्गो) ३—४. बु. च. (राहुलोवाद सुत्त) ५. ध. प. (चित्त वग्गो) ६. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ७. बु. ली. सं. (पृष्ठ २५५) ८. म. नि. (सालेयक सुत्त) ९. सु. नि. (सुभाषित सुत्त) १०-११. सु. नि. (चूलवियूह सुत्त) १२. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त)

: ६ :

अहिंसा

१. 'जैसे मैं हूं, वैसे ही वे हैं, और जैसे वे हैं, वैसा ही मैं हूं' इस प्रकार सबको अपने जैसा समझकर न किसी को मारे, न मारने को प्रेरित करे।

२. जहाँ मन हिंसा से मुड़ता है, वहां दुःख अवश्य ही शांत हो जाता है।

३. अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी जान-बूझकर किसी प्राणी का वध न करे।

४. मनुष्य यह विचार किया करता है कि मुझे जीने की इच्छा है, मरने की नहीं; सुख की इच्छा है, दुःख की नहीं। यदि मैं अपनी ही तरह सुख की इच्छा करनेवाले प्राणी को मार डालूं, तो क्या यह बात उसे अच्छी लगेगी? इसलिए मनुष्य को प्राणिघात से स्वयं तो विरत हो ही जाना चाहिए, उसे दूसरों को भी हिंसा से विरत कराने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. वैरियों के प्रति वैर-रहित होकर, अहा! हम कैसा आनंदमय जीवन बिता रहे हैं, वैरी मनुष्यों के बीच अवैरी होकर विहार कर रहे हैं।

६. पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, क्षुधा और बुढ़ापा। पशु की हिंसा के बढ़ते-बढ़ते वे अट्ठानवे हो गये।

ये याजक, ये पुरोहित निर्दोष पशुओं का वध कराते हैं, धर्म का ध्वंस करते हैं। यज्ञ के नाम पर की गई यह पशु-हिंसा निश्चय ही

निंदित और नीच कर्म है। प्राचीन पंडितों ने ऐसे याजकों की निंदा की है।

७. पहले ब्राह्मण यज्ञ में गाय का हनन नहीं करते थे। जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बंधु-बांधव, वैसे ही ये गायें हमारी परम मित्र हैं। ये अन्न, बल, वर्ण और सुख देनेवाली हैं।

८. किन्तु मानुष भोगों को देखकर कालांतर में ये ब्राह्मण भी लोभ-ग्रस्त हो गये, उनकी भी नीयत बदल गई। मंत्रों को रच-रचकर वे इक्ष्वाकु (ओक्काक) राजा के पास पहुंचे और उसके धनैश्वर्य की प्रशंसा करके उसे पशु-यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उससे कहा, "जैसे पानी, पृथ्वी, धन और धान्य प्राणियों के उपभोग की वस्तुएं हैं, उसी प्रकार ये गायें भी मनुष्यों के लिए उपभोग्य हैं। अतः तू यज्ञ कर।"

९. तब उन ब्राह्मणों से प्रेरित होकर रथर्षभ राजा ने लाखों निर-पराध गायों का यज्ञ में हनन किया। जो बेचारी न पैर से मारती हैं, न सींग से, जो भेड़ की नाईं सीधी और प्यारी हैं, और जो घड़ा-भर दूध देती हैं, उनके सींग पकड़कर राजा ने शस्त्र से उनका वध किया।

१०. यह देखकर देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे—'अधर्म हुआ, अधर्म हुआ, जो गाय के ऊपर शस्त्र गिरा!'

---

१. सु. नि. (नालक सुत्त) २. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ३. बु. च. (सीह सुत्त) ४. बु. ली. स. (पृष्ठ २५५) ५. ध. प. (सुख वग्गो) ६—१० बु. च. (ब्राह्मण धम्मिक सुत्त)

: १० :

अमृत की खेती

१. मैं भी कृषक हूं। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है।

प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री (पाप करने में लज्जा) की हरिस, मन की जोत और स्मृति की फाल से मैं अपना खेत (जीवन-क्षेत्र) जोतता हूं।

सत्य ही मेरा खुरपा है। मेरा उत्साह ही मेरा बैल है और यह योग क्षेम मेरा अधिवाहन है। इस हल को मैं नित्य निरंतर निर्वाण की दिशा में ही चलाया करता हूं।

२. मैं यही कृषि करता हूं। इस कृषि से कृषक को अमृत फल मिलता है, और वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

१—२. सु. नि. (कसिभारद्वाज सुत्त)

: ११ :

मैत्री-भावना

१. शांतपद के जिज्ञासु एवं आत्महित-कुशल मनुष्य का कर्तव्य है कि उसे सहनशील, सरलातिसरल, मधुरभाषी, मृदु और निरहंकारी बनना चाहिए।

२. हमें कोई ऐसा क्षुद्र आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे कि सुज्ञजन हमें दोष दें। हमें सदा यही भावना करनी चाहिए कि जगत के समस्त प्राणी सुखी, सक्षेम और सानंदर हें।

३. चर हों या स्थावर, बड़े हों या छोटे, दृष्ट हों या अदृष्ट, हमसे दूर रहते हों या पास, जगत् में जितने भी प्राणी हों, वे सब आनंदित रहें।

४. न हम एक-दूसरे को धोखा दें, न किसी जगह एक-दूसरे का अपमान करें, और न खीज या द्वेषबुद्धि से एक-दूसरे को दुःख देने की मन में इच्छा रखें।

५. माता जिस प्रकार अपने स्नेह-सर्वस्व पुत्र को अपना जीवन खर्च करके भी पालती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति हमें असीम प्रेम रखना चाहिए।

६. सर्व प्राणियों के प्रति हमें ऊपर, नीचे और चारों ओर असं-बाध, अवैर और असपत्न मैत्री की असीम भावना बढ़ानी चाहिए।

७. खड़े हों तब, चलते हों तब, बैठे हों तब या लेटे हों तब, जब-तक नींद न आ जाय, तबतक हमें इस मैत्री भावना की स्मृति स्थिर रखनी चाहिए।

इसी अवस्था को इस लोक में 'ब्राह्म जीवन' कहते हैं।

८. जिस मनुष्य के मन से लोभ, द्वेष और मोह ये तीन मनोवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, वही चारों दिशाओं में प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव प्रसारित कर सकता है। अपने मैत्रीमय चित्त से चारों दिशाओं में बसनेवाले समस्त प्राणियों पर वह प्रेम की रस वर्षा करता है। करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का उसे अनायास ही सुलाभ हो जाता है।

१—७. सु. नि. (मेत्त सुत्त) ८. अं. नि. (कलाम सुत्त)

: १२ :

अक्रोध

१ 'मुझे अमुक मनुष्य ने गाली दी, अमुक ने मुझे मारा, अमुक ने मुझे पराजित किया, अमुक ने मुझे लूट लिया' इस प्रकार के विचार की जो लोग मन में गांठ बांध लेते हैं, और वैर भंजाने की इच्छा रखते हैं, उनका वैर-भाव कभी शांत नहीं होता।

२. वैर तो उन्हीं का शांत होता है, जो इस प्रकार के विचार हृदय से निकाल देते हैं कि 'मुझे अमुक ने गाली दी, अमुक ने मुझे मारा, अमुक ने मेरा पराभव किया, अमुक ने मुझे लूट लिया।'

३. वैर से वैर कभी शांत नहीं होता। वैर प्रेम से ही शांत होता है। यही सनातन नियम है।

४. 'दूसरे भले ही समझें, पर हम कलह से दूर ही रहेंगे।' ऐसा जो समझते हैं, उनका द्वेष या कलह नष्ट हो जाता है।

५. लोगों की हड्डियां तोड़ डालनेवाले, दूसरों का प्राण ले लेने-वाले, गाय, घोड़ा, धन-संपत्ति आदि का हरण करनेवाले और राष्ट्र में विप्लव मचानेवाले लोग भी मेल कर लेते हैं, उनमें भी एका हो जाता है, तब तुम्हारा मेल क्यों नहीं होता?

६ किसी से कटु वचन न बोलो। यदि बोलोगे, तो वह भी तुमसे वैसा ही कटु वचन बोलेगा। झगड़े में दुःख बढ़ता ही है। कटु वचन बोलने से, बदले में, तुम्हें दंड मिलेगा। टूटा हुआ कांसा जैसा निःशब्द रहता है, उसी तरह अगर तुम स्वयं चुप रहोगे, तो तुम निर्वाणपद प्राप्त कर लोगे, तुम्हें कलह नहीं सतायेगा।

७. क्षमा के समान इस जगत में दूसरा तप नहीं।

८. जो चढ़े हुए क्रोध को चलते हुए रथ की तरह रोक लेता है, उसी को मैं सच्चा सारथी कहूंगा, और लोग तो केवल लगाम पकड़ने-वाले हैं।

९. अक्रोध से क्रोध को जीते, बुराई को भलाई से जीते, कृपण को दान से जीते और झूठ बोलनेवाले को सत्य से जीते।

१०. क्रोध करनेवाले के ऊपर जो क्रोध करता है, उसका खुद उससे अहित होता है, पर जो क्रोध का जवाब क्रोध से नहीं देता, वह एक भारी युद्ध जीत लेता है। प्रतिपक्षी को क्रोधांध देखकर जो अत्यंत विवेक के साथ शांत हो जाता है, वह अपना और पराया दोनों का ही हित-साधन करता है।

११. तुझे कोई गाली दे, और गाली ही नहीं, तेरे गाल पर कोई थप्पड़ मार दे, या पत्थर या हथियार से तेरे शरीर पर कोई प्रहार करे, तो भी तेरे चित्त में विकार नहीं आना चाहिए, तेरे मुंह से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तेरे मन में उस समय भी तेरे शत्रु के प्रति अनुकंपा और मैत्री का भाव रहना चाहिए, और किसी भी हालत में क्रोध नहीं आना चाहिए।

१२ मनुष्य तभी तक शांत और नम्र दीखता है, जबतक कोई उसके विरुद्ध अपशब्द नहीं कहता। पर जब उसे अपशब्द या निंदा सुनने का प्रसंग आता है, तभी इस बात की परीक्षा हो सकती है, वह वास्तव में शांत और नम्र है या नहीं।

१३. जो धर्म के गौरव से धर्म को पूज्य मानकर शांत और नम्र होता है, उसी को सच्चा शांत और उसी को सच्चा नम्र समझना चाहिए। अपना मतलब साधने के लिए कौन शांत और नम्र नहीं बन जाता?

१४. कोई मौके से बोलता है तो कोई बेमौके से बोल देता है; कोई उचित बात कहता है तो कोई अनुचित बात कह देता है; कोई मधुर वचन बोलता है तो कोई कटु वचन बोलता है; कोई हित की बात कहता है तो कोई अहित की बात कहता है; कोई हितबुद्धि से बोलता है तो कोई

द्वेषबुद्धि से बोलता है। इन सब प्रसंगों पर तुम्हारा चित्त विकार के वश नहीं होना चाहिए, तुम्हारे मुंह से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंत.करण में दया-मैत्री रहनी चाहिए, क्रूरता और द्वेष नहीं और तुम्हें ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जिस मनुष्य ने तुम्हारे विरुद्ध कोई बात कही है, उसे ही आधार बनाकर तुम समस्त संसार पर मैत्री-भावना की सतत वर्षा कर सको।

१५. यदि कोई टोकरी और कुदाली लेकर यह कहे कि 'इस तमाम पृथ्वी को मैं खोदकर फेंक दूंगा!' दूसरा मनुष्य लाख का रंग, हल्दी का रंग और मजीठ का रंग लेकर कहे कि 'इस समस्त आकाश को मैं रंग डालूंगा!' और तीसरा मनुष्य घास की पूली सुलगाकर कहे कि 'इस गंगा नदी को मैं भस्म कर डालूंगा!' तो उन मनुष्यों के प्रयत्नों का पृथिवी, आकाश या गंगा नदी पर कोई असर पड़ने का नहीं। इसी प्रकार दूसरे लोगों के बोलने का तुम्हारे हृदय पर तनिक भी बुरा असर नहीं पड़ना चाहिए।

१६. अगर चोर और लुटेरे आकर तुम्हारे शरीर के अंग आरे से काटने लग जायँ और उस अवसर पर तुम्हारे मन में उन लुटेरों के प्रति क्रोध या द्वेष आ जाय, तो तुम मेरे सच्चे अनुयायी नहीं कहे जा सकते।

ऐसे प्रसंग पर भी तुम्हारे मन में द्वेष नहीं आना चाहिए, तुम्हारे मुंह से बुरे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंत:करण में दया और मैत्री की भावना रहनी चाहिए, और अपने शत्रु को आधार स्वरूप मानकर समस्त संसार पर तुम्हें निस्सीम मैत्री भावना करनी चाहिए।

१—३. ध. प. (यमक वग्गो) ४—५. म. नि. (उपक्किलेस सुत्तंत) ६. ध. प. (दंड वग्गो) ७. ध प. (बुद्ध वग्गो) ८—९. ध. प. (क्रोध वग्गो) १०. बु. ली. सा. स. (पृष्ठ ३०९) ११—१६. म. नि. (ककचूपम सुत्तंत)

: १३ :

तृष्णा

१. प्रमाद-रत मनुष्य की तृष्णा लता की भांति वढ़ती ही जाती है। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक इस तरह दौड़ती रहती है, जैसे वन में बंदर एक फल के वाद दूसरे फल की इच्छा करता है।

२. यह जहरीली तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसके शोक वीरन घास की तरह वढ़ते ही जाते हैं।

३. इस दुर्जेय तृष्णा को जगत में जो कावू कर लेता है, उसके शोक इस प्रकार झड़ जाते हैं, जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से जल के विंदु।

४. जैसे जड़ के दृढ़ होने के कारण और उसके नष्ट न होने से कटा हुआ वृक्ष भी फिर से उग आता है, वैसे ही जव तक तृष्णा की जड़ न कटे, तृष्णारूपी अनुशय (मल) नष्ट न हो, तवतक दुःख वरावर पैदा होता ही रहेगा।

५. ये रागयुक्त संकल्प सोतों के रूप में चारों ओर वह रहे हैं, जिनके कारण तृष्णारूपी लता अंकुरित होती और जड़ पकड़ती रहती है। जहां भी कहीं तुम यह लता जड़ पकड़ती हुई देखो, वहीं प्रज्ञा की कुल्हाड़ी से उसकी जड़ काट डालो।

६. जाल में फँसे हुए खरगोश की तरह तृष्णा के पीछे पड़े हुए ये प्राणी इधर-उधर चक्कर काटते रहते हैं। संयोजनों अर्थात मन के वंधनों में जकड़े हुए ये मूढ़ लोग वरावर दुःख और क्लेश पाते हैं।

७. ये जो लोहे, लकड़ी या रस्सी के वंधन हैं इन्हें वुद्धिमान लोग दृढ़ वंधन नहीं कहते। इनकी अपेक्षा दृढ़ वंधन तो वह चित्त है, जो मणि,

कुण्डल, पुत्र और कलत्र के लिए की जाती है।

८. जो मनुष्य राग में रत रहते हैं, वे अपनी ही बनाई धारा में इस प्रकार वह जाते हैं, जैसे मकड़ी अपने ही रचित जाल में फँस जाती है। धीर पुरुष इस धारा को काटकर समस्त आकांक्षाओं और दुःखों से रहित हो जाते हैं।

९. जो प्राणी तर्क-वितर्क आदि संशयों से पीड़ित है, और तीव्र राग में फंसा हुआ है तथा सदा सुख-ही-सुख की अभिलाषा करता है, उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है, और वह प्रतिक्षण अपने लिए और भी मजबूत बंधन तैयार करता जाता है।

१०. जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई, राग से जो विमुक्त हो गया, जो शब्द और उसका अर्थ जानता है और जिसे अक्षरों के क्रम का ज्ञान है, उसे 'महाप्राज्ञ' कहते हैं। निश्चय ही वह अंतिम शरीरवाला है, अर्थात् वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा।

११. संसार-सागर के पार जाने का प्रयत्न न करने वाले मूर्ख मनुष्य को ये ऐहिक भोग नष्ट कर देते हैं। भोग की तृष्णा में फंसकर वह दुर्बुद्धि मनुष्य अपने-आपका ही हनन करता है।

१२. तृष्णा का साथी बनकर बार-बार जन्म लेने वाले मनुष्य मनुष्यत्व अथवा मनुष्येतर भाव को प्राप्त करके संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकता।

१३. 'तृष्णा से दुःख की उत्पत्ति होती है'—तृष्णा में यह दोष देखकर भिक्षु को चाहिए कि वह वीततृष्ण, आदानविरहित (अपरिग्रही) और स्मृतिमान होकर प्रव्रज्या ले ले।

१४. भवतृष्णा का उच्छेद कर देने वाले शांतचित्त भिक्षु की जन्म-परंपरा नष्ट हो जाती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

१५. मनुष्य जितना ही कामादि का सेवन करता है, उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती है। काम के सेवन में क्षणमात्र के लिए ही रसास्वाद मालूम देता है।

१—११. ध. प. (तण्हा वग्गो) १२—१४. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १५. म. नि. (मागंदिय सुत्तंत)

: १४ :

अन्तःशुद्धि

१. हे ब्राह्मण ! इन लकड़ियों को जलाकर तू क्यों शुद्धि मानता है ? यह शुद्धि नहीं है। यह तो एक बाह्य वस्तु है। पंडित लोग इसे शुद्धि नहीं कहते। मैं यह 'दारु-दाह' छोड़कर अपने अन्दर ही ज्योति जलाता हूं। नित्य अग्निवाला, नित्य एकांत चित्तवाला होकर मैं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हूं। यही सच्ची शुद्धि है।

२. हे ब्राह्मण ! तेरा यह अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुआं है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। अपने-आपका दमन करने पर ही पुरुष को यह ज्योति प्राप्त होती है। यही सच्ची आत्मशुद्धि है।

३. हे ब्राह्मण ! शीलरूपी घाटवाले निर्मल धर्म सरोवर में, जिसकी संतजन प्रशंसा करते हैं, नहाकर कुशलजन शुद्ध होते हैं। वे शरीर को बिना भिगोये ही पार उतर जाते हैं।

४. श्रेष्ठ शुद्धि की प्राप्ति सत्य, संयम और ब्रह्मचर्य पर निर्भर करती है।

५. अरे मूर्ख ! यह जटा-जूट रखा लेने से तेरा क्या बनेगा, और मृगचर्म पहनने से क्या ? अंतर तो रागादि मलों से परिपूर्ण है, बाहर तू क्या धोता है।

६. बाहुका, अविकक्क, गया और सुन्दरिका में, सरस्वती और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में कलुषित कर्मोंवाला मूढ़ चाहे नित्य ही

नहावे, पर शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुंदरिका, क्या करेगा प्रयाग

और क्या करेगी यह बहुलिका ? ये सब तीर्थ उस कृतकिल्बिष (पापी) दुष्ट मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकते।

७. शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु नदी है, सदा ही उपोसथ (व्रत का दिन) है। शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत तो सदा ही पूरे होते रहते हैं।

८. तू तो समस्त प्राणियों की कल्याण-कामना कर, यही तेरा तीर्थस्थान है। यदि तू असत्य नहीं बोलता, यदि तू प्राणियों की हिंसा नहीं करता, यदि तू बिना दिया हुआ नहीं लेता, और यदि तू श्रद्धावान तथा मत्सररहित है, तो फिर गया जाकर क्या करेगा ? तेरे लिए तो यह क्षुद्र जलाशय ही गया है।

९. पानी से शुद्धि नहीं होती। जो सत्यनिष्ठ और धर्मवान है, वही शुचि होती है, वही शुद्ध है।

१०. अंतःशुद्धि न दृष्टि से, न श्रुति से और न ज्ञान से ही प्राप्त होती है। शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता; पर इतने से यह न समझना कि ये निरर्थक हैं और इनका त्याग करने से शुद्धि प्राप्त होती है। जबतक सम, विशेष और हीन का भाव बना रहेगा, तब तक शुद्धि दुर्लभ है।

११. जो तृष्णा के बंधन से नहीं छूटा, उस मनुष्य की शुद्धि न नग्न रहने से, न जटा रखने से, न पंक लपेटने से, न भस्म रमाने से, और न विभिन्न आसनों के जगाने से ही होती है।

१२. तू अपने किये पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

१३. जिन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है वे सभी अनित्य हैं, जो इस बात को प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह सभी दु:खों से उदासीन हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१४. जितनी भी संस्कृत या उत्पन्न वस्तुएं हैं वे सभी दु:खदायी हैं। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है वह सभी दु:खों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१५. जितने भी धर्म या पदार्थ हैं वे सभी अनात्म हैं। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह समस्त दुःखों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१—४. बु. च. (सुद्धरिका भारद्वाज सुत्त) ५. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ६—८. म. नि. (वत्थ सुत्तंत) ६. बु. च. (जटिल सुत्त) ११. ध. प. (दंड वग्गो) १२ ध. प. (अत्त वग्गो) १३—१५. ध. प. (मग्ग वग्गो)

: १५ :

चित्त

१. जिस समय मनुष्य का चित्त काम-विकार से व्यग्र हो जाता है और काम-विकार के उपशमन का रास्ता उसे दिखाई नहीं देता, उस समय कामांध को यह नहीं सूझता कि क्या तो स्वार्थ है और क्या परार्थ।

२. जिस समय मनुष्य का चित्त क्रोधाभिभूत अथवा आलस्य के कारण जड़वत, भ्रांत, अथवा संशयग्रस्त हो जाता है, उस समय वह यथार्थ रीति से यह नहीं समझता कि अपना अथवा दूसरे का हित किसमें है।

३. वर्तन के पानी में काला रंग डाल देने के बाद जैसे उसमें हमें अपना प्रतिबिंब ठीक-ठीक नहीं दिखाई देता, उसी तरह जिसका चित्त काम-विकार से व्यग्र हो जाता है, उसे अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता।

४. स्वच्छ पानी का बर्तन जब गरम हो जाता है, तब उस पानी से भाप निकलने लगती है और वह खौलने लगता है। उस समय मनुष्य उस खौलते हुए पानी में अपना प्रतिबिंब नहीं देख सकता।

इसी तरह मनुष्य जब क्रोधाभिभूत होता है, तब उसकी समझ में यह नहीं आता कि उसका आत्महित किसमें है।

५. उस वर्तन के पानी में अगर सिवार हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिबिंब नहीं देख सकता।

इसी प्रकार जिसका चित्त आलस्य से पूर्ण होता है, वह अपना ही हित नहीं समझ सकता, दूसरों का हित कैसे समझ सकेगा।

६. उस बर्तन का पानी अगर हवा से हिलने-डुलने लगे, तो उसमें मनुष्य अपना प्रतिबिंब कैसे देख सकता है ?

इसी प्रकार भ्रांत-चित्त मनुष्य यह समझ ही नहीं सकता कि किसमें तो अपना हित है और किसमें पराया।

७. वह पानी अगर हाथ से हिला दिया गया हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिबिंब ठीक-ठीक नहीं देख सकता।

इसी तरह जिसका चित्त संशयग्रस्त हो जाता है, वह अपना और पराया हित-अहित समझ ही नहीं सकता।

८. वही पानी यदि निर्मल और शांत हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिबिंब स्पष्ट देख सकता है।

इसी प्रकार जिसका चित्त कामच्छंद, व्यापाद (क्रोध), आलस्य, भ्रांतता और संशयग्रस्तता, इन पांच आवरणों से मुक्त हो गया है, वही अपना और पराया हित यथार्थ रीति से समझ सकता है।

९. जिस प्रकार पानी से निकलकर मछली थल में आ पड़ने पर तड़फड़ाती है, उसी प्रकार यह चित्त राग, द्वेष और मोह के फंदे से निकलने के लिए कांपता है।

१०. कठिनाई के वश में आने योग्य चंचल और जहाँ-तहां दौड़नेवाले चित्त का दमन करना अच्छा है। दमन किया हुआ चित्त ही शांतिदायक होता है।

११. कठिनाई से समझ में आने योग्य, अत्यंत चालाक और जहां-तहां दौड़नेवाले चित्त की बुद्धिमान पुरुष को रक्षा करनी चाहिए; सुरक्षित चित्त से सदैव सुख मिलता है।

१२. दूर-दूर तक दौड़ लगाने वाले, एकाकी चलनेवाले, शरीर-रहित और हृदय की गुफा में छिपे हुए इस चित्त को जो संयम में रखता है, वही प्रबल मार के (विषयों के) बंधन से मुक्त हो सकता है।

१३. जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सच्चे धर्म को नहीं जानता और जिसके हृदय में शांति नहीं, उसे पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है ?

१४. जिसका चित्त मल-रहित और अकंप्य है, जो सदा ही पाप और पुण्यविहीन है, उस सतत जागते रहनेवाले पुरुष के लिए कहीं भी

भय नहीं।

१५. इस शरीर को घड़े के समान टूट जानेवाला समझकर इस चित्त को गढ़ के समान सुदृढ़ करके प्रज्ञा के अस्त्र से विषयों के साथ युद्ध करें और जब विषयों को जीत ले, तो उनके ऊपर कड़ी नजर रखें, असावधानी न करें।

१६. जितना हित माता, पिता या दूसरे भाई-बंधु कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक हित मनुष्य का संयत चित्त करता है।

१७. अगर मकान का छप्पर खराब है, तो उसकी दीवारें इत्यादि अरक्षित ही समझनी चाहिए, धीरे-धीरे वह मकान भूमिसात ही होने को है।

इसी तरह जो अपने चित्त को नहीं संभालता, उस मनुष्य के कर्म विकारग्रस्त हो जाते हैं, और इसका अत्यंत अनिष्ठ परिणाम होता है। अपने चित्त को यदि वह संभाल लेता है, तो उसके सारे कर्म सुरक्षित रहते हैं, और वह शांति से प्राण त्याग करता है।

१८. जिस समय चित्त में जड़ता आ गई हो, उस समय प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा, इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। किसी मनुष्य को आग सुलगानी हो, और वह चूल्हे में गीली लकड़ियां और गीली घास-पात रखकर उसे फूंकने लगे तो क्या आग सुलग जायगी ?

इसी प्रकार जिसका चित्त जड़ हो गया है, वह यदि प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा, इन तीन बोध्यंगों की भावना करेगा, तो उसके चित्त को उत्तेजना मिलने की नहीं।

१९. उस समय तो धर्म-प्रविचय (धर्मान्वेषण), वीर्य (उद्योग या मनोबल) और प्रीति (हर्ष), इन तीन बोध्यंगों की भावनाएं अत्यंत उपयोगी हैं। सूखी लकड़ी और सूखा घास डालने से आग तुरंत सुलग जाती है।

इस चित्त की जाड्यावस्था में धर्म-प्रविचय, वीर्य और प्रीति, इन तीनों बोध्यंगों की भावना करने से चित्त की जड़ता दूर हो जाती है और उसे अवश्य उत्तेजना मिलती है।

२०. पर, जिस समय चित्त भ्रांत हो गया हो, उस समय धर्म-प्रविचय, वीर्य और प्रीति, इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। इन बोध्यंगों की भावना से चित्त-भ्रांति का उपशमन नहीं होता, बल्कि वह और भी अधिक भ्रांत हो जाता है।

२१. उस समय तो प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा, इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी चाहिए, क्योंकि इन बोध्यंगों से भड़का हुआ चित्त ठिकाने पर आ जाता है, इन्हीं बोध्यंगों की भावना से भ्रांत चित्त को शांति मिलती है।

२२. केवल यह चित्त ही मरणशील मनुष्यों का साथी है।

२३. जिस प्रकार उस मकान में वर्षा का पानी सहज ही पैठ जाता है, जो ठीक तरह से छाया हुआ नहीं होता, उसी प्रकार असंयत (अभावित) चित्त में राग सहज ही प्रवेश कर जाता है।

२४. जैसे अच्छी तरह छाये हुए मकान में वर्षा का पानी आसानी से नहीं पहुंच सकता, वैसे ही असंयत चित्त के अंदर राग प्रवेश नहीं हो सकता।

२५. अरे ! यह तेरा गर्वीला रूप एक दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा।

१—८. बु. ली. सा. सं. (भाग ३. पृष्ठ २७०) ९—१६. ध. प. (चित्त वग्गो) अं. नि. (कूट सुत्त) १८—२१. बु. ली. सा. सं. (पृष्ठ २७१) २२. अं. नि. (दसक निपात) २३—२४. ध. प. (यमक वग्गो)

: १६ :

अनित्यता

१. यह क्षणभंगुर शरीर रोगों का घर है। इस देह को सड़-सड़कर भग्न हो जाना है। आश्चर्य ही क्या, जीवन मरणांत जो ठहरा।

२. इस जराजीर्ण शरीर के साथ कौन मूर्ख प्रीति जोड़ेगा? इसकी हड्डियों को तो जरा देखो— शरदकाल की अपथ्य परित्यक्त लौकी की भांति या कबूतरों की-सी सफेद ये हड्डियां।

३. यह शरीर क्या है, हाड़ों का एक गढ़ है। यह गढ़ मांस और रक्त से लिपा हुआ है। इस गढ़ के भीतर बुढ़ापा, मृत्यु, अभिमान और डाह ने अड्डा बना रखा है।

४. इस चौथेपन में तू पीले पत्ते की तरह जीर्ण हो गया है। देख, ये यमदूत तेरे सामने खड़े हैं। प्रयाण के लिए तो तू तैयार है, पर पाथेय (राह खर्च) तेरे पास कुछ भी नहीं! अतः अब भी तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, अपना यह मल धो डाल, दोष-रहित हो जा। इस प्रकार तू आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर लेगा।

५. आयु तेरी अब समाप्त हो चली है। तेरा कोई निवास स्थान भी यहां नहीं, न पाथेय ही है। अतः तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, और अपना यह मल पखारकर दोष-रहित हो जा। इस तरह तू अब भी आर्यों का दुर्लभ दिव्य पद प्राप्त कर लेगा।

६. इस देह के भीतर कैसी-कैसी चीजें भरी हुई हैं—आंतें, यकृत-पिंड, मूत्राशय, फेफड़े, तिल्ली, लार, थूक, पसीना, चरबी, रक्त, पीव, पित्त, विष्ठा और मूत्र।

७. इस नौ दरवाजे की देह से कैसी-कैसी चीजें निकला करती हैं। आंख, कान, नाक, मुंह ये सभी मलद्वार हैं। शरीर के एक-एक छेद से पसीना निकलता है।

८. जब इस देह से प्राण निकल जाते हैं, तो यह फूल जाती है और नीली पड़ जाती है। मरघट में इसे फेंक देते हैं और सब सगे-संबंधी भी देह की उपेक्षा करते हैं।

९. कुत्ते, सियार, भेड़िये और कीड़े वहां उस देह को खाते हैं और कौए और गीध भी महोत्सव मनाते हैं।

१०. ऐसी क्षणभंगुर और घृणित देह पर जो गर्व और दूसरों की अवहेलना करता है, उसका कारण सिवा उसकी मूढ़ता के और हो ही क्या सकता है?

११. जागो! बैठ जाओ! दृढ़ निश्चय के साथ शांति का अभ्यास करो। तुम्हें गाफिल देखकर यह मृत्युराज मार कहीं अपने मोहपाश में न फँसा ले।

१२. शल्य तुम्हारे शरीर में चुभा हुआ है, और तुम उससे पीड़ित हो रहे हो। आश्चर्य है कि इस दुःख-पीड़ा में तुम्हें नींद आ रही है।

१३. अप्रमाद और प्रज्ञा के द्वारा अपने शरीर में चुभा हुआ यह तीक्ष्ण शल्य निकाल लो न!

१४. अरे, यह जीवन कितना अल्प है! सौ वर्ष पूरे होने से पहले ही यह समाप्त हो जाता है। और जो इनसे अधिक जीता है वह भी एक दिन जराजीर्ण होकर मर जाता है।

१५. मनुष्य जिसे मानता है कि यह मेरा है उसे भी एक दिन मृत्यु द्वारा नष्ट होना ही है, यह समझकर बुद्धिमान धर्मोपासक 'ममत्व' नहीं करता।

१६. सपने में देखी हुई वस्तु को जागने के बाद जैसे मनुष्य देख नहीं सकता, वैसे ही वह अपने परलोकवासी प्रियजनों को नहीं देख सकता।

१७. जो प्राणी परलोकवासी हो जाता है उसका यहां केवल नाम ही शेष रह जाता है।

१८. लोभी मनुष्य न तो शोक का त्याग कर सकते हैं, न दुःख और डाह का ही।

१९. ओह ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनाशून्य हो सूखे ठूंठ की तरह पृथ्वी पर गिरेगा।

२०. राग आदि के पुष्पों को चुननेवाले आसक्तियुक्त मनुष्य को मृत्यु उसी तरह पकड़ ले जाती है, जिस तरह कि सोये हुए गांव को बाढ़ बहा ले जाती है।

२१. सोये हुए गांव को जैसे भारी बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्रकलत्रादि में आसक्त पुरुष को धोखे-ही-धोखे में मौत उठा ले जाती है।

२२. न पुत्र रक्षा कर सकता है, न पिता और न बंधु-बांधव ही। जब मौत आकर घर दबाती है तब न जातिवाले रक्षक हो सकते हैं, न परिवारवाले।

२३. अनित्यता न तो नगर-धर्म है, और न वह कुल-धर्म ही। समस्त मनुष्यों और देवताओं का यही स्वभाव है कि एक-न-एक दिन उन्हें मरना ही होगा।

२४. मूर्ख सोचता है कि 'यह पुत्र मेरा है', 'यह धन मेरा है।' अरे, जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब किसका पुत्र और किसका धन ?

२५. जरा देखो तो इस विचित्र शरीर को ! तमाम व्रण-ही-व्रण हैं। पीड़ित है, तो भी अनेक संकल्पों से युक्त है ! अरे इसकी स्थिति ही अनियत है। क्या ठिकाना कब छूट जाय !

१—५. ध. प. (जरा वग्गो) ६—१०. सु. नि. (विजय सुत्त) ११—१३ सु. नि. (उट्ठान सुत्त) १४—१८. सु. नि. (जरा सुत्त) १९. ध. प. (चित्त वग्गो) २०. ध. प. (पुप्फ वग्गो) २१—२२. ध. प. (मग्ग वग्गो) २३. थेरी अपदान (तृतीय भाणवार) २४. ध. प. (बाल वग्गो) २५. ध. प. (जरा वग्गो)

: १७ :

शोक किसके लिए

१. ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिससे मृत्यु न हो। जिसने जन्म लिया है वह मरेगा अवश्य। प्राणियों का स्वभाव ही मृत्यु है।

२. पके हुए फलों को जिस तरह डाल से नीचे गिर पड़ने का भय है उसी तरह जन्मे हुए प्राणियों को मृत्यु का भय लगा रहता है।

३. कुम्हार के गढ़े हुए मिट्टी के बर्तन का जिस प्रकार टूटने पर पर्यवसान हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के जीवन का मृत्यु में पर्यवसान होता है।

४. छोटा हो या बड़ा, मूर्ख हो या पंडित, सभी मृत्यु के अधीन हैं। ये सभी प्राणी मृत्युपरायण हैं।

५. मृत्यु और जरा से यह सारा संसार ग्रसित हो रहा है। यह तो लोक का स्वभाव ही है, ऐसा समझकर आत्मज्ञ पंडित शोक नहीं करते।

६. जिसके आने और जाने का मार्ग तुझे मालूम नहीं, और जिसके दोनों ही अंत तेरे देखने में नहीं आते, उसके लिए तू अकारथ ही शोक करता है।

७. कितना ही रोओ, कितना ही शोक करो, इससे चित्त को शांति तो मिलने की नहीं। उलटे दुःख ही बढ़ेगा और शरीर पर भी शोक का बुरा प्रभाव पड़ेगा।

८. आप ही अपने को कष्ट देनेवाला मनुष्य क्षीणकाय और निस्तेज हो जाता है। शोक से उन मृत प्राणियों को कोई लाभ तो पहुंचता नहीं। अतएव यह शोक व्यर्थ है।

९. कोई सौ वर्ष या इससे अधिक जीवित रहे, तो क्या—एक-न-एक दिन तो उन प्रियजनों के बीच से अलग होना ही है।

१०. अतः जो आपको सुखी रखना चाहता है, उसे अपने अन्तःकरण से इस शोकरूपी शल्य को खींचकर फेंक देना चाहिए।

११. यह चीज मेरी है या दूसरों की, ऐसा जिसे नहीं लगता और जिसे ममत्व की वेदना नहीं होती, वह कभी यह कहकर शोक नहीं किया करता कि मेरी वह चीज नष्ट हो गई है।

१२. प्रिय वस्तु से ही शोक उत्पन्न होता है; और प्रिय से ही भय। प्रिय वस्तुओं के बंधन से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं, फिर भय कहां से हो ?

१३. प्रेम या मोहासक्ति से ही शोक उत्पन्न होता है; और प्रेम से ही भय; प्रेम से जो मुक्त हो गया है उसे शोक कैसा—और फिर भय कहां से होगा ?

१४. इसी प्रकार राग, काम और तृष्णा से शोक तथा भय उत्पन्न होता है। राग, काम और तृष्णा से जो विमुक्त है उसका शोक से क्या संबंध—और फिर उसे भय कहां से होगा ?

१५. मनुष्य तो है ही क्या, ब्रह्मा के भी वश की यह बात नहीं कि जो जराधर्मी है उसे जरा (बुढ़ापा) न सताये, जो मर्त्य है, उसकी मृत्यु न हो, जो क्षयवान है, उसका क्षय न हो और जो नाशवान है, उसका नाश न हो।

१६. किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने के प्रसंग पर मूढ़ लोग यह विचार नहीं करते कि 'यह बात तो नहीं है कि मेरे ही प्रियजन को बुढ़ापा; व्याधि और मृत्यु का शिकार होना पड़ा है, यह तो सारे संसार का धर्म है, प्राणिमात्र जरा और मृत्यु के पाश में बंधे हुए हैं।

१७. मूढ़ लोग विवेकांध होकर शोक-सागर में डूब जाते हैं, और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। न उन्हें अन्न रुचता है, न जल। उनके शरीर की कांति क्षीण पड़ जाती है। काम-काज सब बंद हो जाता है। उनकी यह दशा देखकर उनके शत्रु आनंद मानते हैं कि चलो, अच्छा हुआ, इनका प्रियजन तो मरा ही, ये भी उसके वियोग में मरने वाले हैं।

१८. पर बुद्धिमान और विवेकी मनुष्य की बात इससे अलग

है। वह जरा, व्याधि, करण, क्षय और नाश का शिकार होने पर यथार्थ रीति से विचार करता है। यह देखकर कि इस विकार से तो जगत में कोई भी अछूता नहीं बचा, वह शोक नहीं करता। वह अपने अन्त:करण से शोक के उस विषाक्त बाण को खींचकर फेंक देता है, जिस बाण से विद्ध मूर्ख मनुष्य अपनी ही हानि करते हैं।

१—१० सु. नि. (सल्ल सुत्त) ११. सु. नि. (अत्तादंड सुत्त)
१२—१४. ध. प. (पियवग्गो) १५—१८ सं. नि. (कोसल सुत्त)
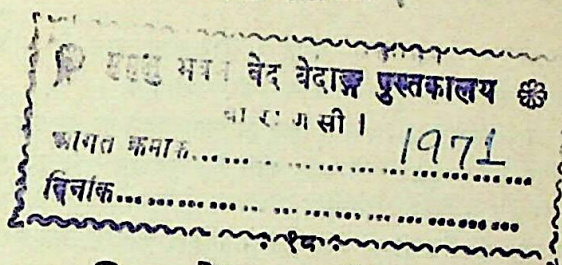
विषयों का मीठा रस

१. नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा, इन पांचों इन्द्रियों के रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से मनुष्य को जो सुख प्राप्त होता है उसी को मैं विषयों की जहरीली मिठाई कहता हूं।

२. एक नौजवान आदमी व्यापार, खेती-पाती या नौकरी करके अपना निर्वाह करता है। अपने रोजगार-धंधे में उसे भारी-से-भारी कष्ट झेलना पड़ता है, तो भी विषय-भोग की वस्तु प्राप्त करने के लिए वह दिन-रात प्रयत्न किया करता है। इतना परिश्रम करने पर भी, यदि उसकी मन-चाही चीज उसे नहीं मिलती, तो वह शोकाकुल होकर विचार-विमूढ़ बन जाता है।

३. यदि उसे अपने उद्योग में यश मिल गया और अपनी वांछित वस्तु प्राप्त हो गई, तो वह दिन-रात इसी चिंता में पड़ा रहता है कि दुष्ट राजा या चोर उसे लूट न ले जायँ, आग या बाढ़ से वह नष्ट न हो जाय और उससे दुश्मनी मानने वाले बंधु-बांधव कहीं उसे नुकसान न पहुँचा बैठें।

इन विचारों से उसका मन सदा ही शंकित और त्रस्त रहता है और अगर उसकी आशंका सत्य निकल आती है, तो उस मनुष्य के दुःख का पार नहीं रहता।

४. इन विषयों के लिए ही एक राजा दूसरे राजा के साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय के साथ, वैश्य वैश्य के साथ, माता पुत्र के साथ, पुत्र माता के साथ, बाप लड़के के साथ, बहन भाई के साथ और मित्र मित्र के साथ लड़ता है। इन विषयों के पीछे क्या-क्या कांड नहीं होते ?—गाली-गलौज होता है,

हाथापाई होती है, हथियार चल जाते हैं और लोग मारे भी जाते हैं और नहीं तो मरणांतक दुःख तो भोगना ही पड़ता है।

५. इन विषयों की प्राप्ति के लिए ही लोग लड़ने पर आमादा हो जाते हैं और भीषण युद्धक्षेत्र में उतर पड़ते हैं। खूब घमासान युद्ध होता है और रणक्षेत्र में कितने ही मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों से मारे जाते हैं, कितने ही आहत होते हैं। विषयों की इस जहरीली मिठाई के पीछे उन्हें मरणांतक दुःख भोगना पड़ता है।

६. इस विषय-भोग के लिए कितने ही मनुष्य चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, राहगीरों पर टूट पड़ते हैं या दूसरों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं। विषय-भोग के शिकार उन चोरों, डाकुओं और व्यभिचारियों को पकड़कर राजा अनेक प्रकार का दंड देता है। उनके हाथ-पैर तोड़ डालता है, उनके नाक-क़ान काट लेता है या उनका सिर ही उड़ा देता है।

७. इस विपाक्त विषय-भोग के लिए ही मनुष्य मन, वचन और काया से इस लोक में घोर-से-घोर दुराचार करता है और मृत्यु के बाद दुर्गति को प्राप्त होता है।

८. विषयों की आसक्ति छोड़ देने से ही मनुष्य विषय-विमुक्त हो सकता है।

९. जो ज्ञानवान मनुष्य विषय-माधुर्य, विषय-दोष और विषय-मुक्ति को यथार्थ रीति से जानता है, वह स्वयं विषयों का त्याग कर देता है, और दूसरों को भी विषयों के त्याग का उपदेश करता है।

१०. सौंदर्य की मिठाई क्या है ? किसी अत्यंत रूपवती तरुणी को देखकर मन में जो मादक सुख उत्पन्न होता है, वही सौंदर्य की मिठाई है।

११. पर इस सौंदर्य की मिठाई में तो विकार है। वही सुंदरी तरुणी जब वृद्धा हो जाती है, जब कमर झुक जाती है, बिना हाथ में लकड़ी लिये जब वह चल नहीं सकती, उसके सब अंग शिथिल पड़ जाते हैं, दांत गिर जाते हैं, बाल सन-से सफेद हो जाते हैं, गर्दन हिलने लगती है, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, तब उसका वह पहले का सरस सौंदर्य और ललित

लावण्य विनष्ट हो जाता है। यह है सौंदर्य का दोष।

१२. सौंदर्य के विषय में आसक्ति न रखना ही सौंदर्य-जन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। सौंदर्य की मिठाई क्या है? उसमें क्या दोष है, और उस दोष से हम किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, इन सबको जो बुद्धिमान पुरुष यथार्थ रीति से समझता है, वह स्वयं तो रूप-रस के विषय से मुक्त हो ही जायगा, दूसरों को भी सौंदर्य-मुक्ति के मार्ग पर चलने की शिक्षा देगा।

---

१. १२ (महादुक्खक्खंध सुत्तंत)

: १६ :

वैराग्य

१. जैसे थोड़े पानी में मछलियां तड़फड़ाया करती हैं, वैसे ही एक-दूसरे के साथ अन्दर-ही-अन्दर विरोध करके दौड़धूप करते हुए लोगों को देखकर मेरे अन्त:करण में भय प्रवेश हुआ।

२. मुझे ऐसा लगने लगा कि यह जगत असार है और समस्त दिशाएं मानो कांप रही हैं। इस जगत में मैंने अपने लिए आश्रय-स्थान खोजा, पर वह कहीं भी न मिला।

३. अरे, अंत तक ये लोग लड़ते ही रहेंगे—यह देखकर मुझे दुनिया से अत्यंत अरुचि हो गई है। तब अपने ही हृदय में चुभा हुआ दुदर्श शल्य मुझे दिखाई दिया।

४. यदि शल्य से मनुष्य बिंधा हुआ है, तो वह भाग-दौड़ मचायेगा ही, पर यदि वह अन्तर से बिंधा हुआ बाण खींचकर निकाल लिया जाय, तो अपनी सारी दौड़-धूप बंद करके वह एक जगह स्थिर हो जायगा।

५. ओह! कैसी भयंकर आग लगी है! सब जल रहे हैं। नेत्रेंद्रिय जल रही है। रूप जल रहा है। नेत्रेंद्रिय और रूप से उत्पन्न विज्ञान भी जल रहा है।

६. ये सब किस आग से जल रहे हैं? राग की आग से, द्वेष की आग से और मोह की आग से ये सब जल रहे हैं। जन्म, जरा, मृत्यु, शोक परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य आदि परिणामों से ये सब जल रहे हैं।

७. इसी प्रकार श्रोत्रेंद्रिय और उसका विषय शब्द, घ्राणेंद्रिय और उसका विषय गंध, जिह्वा और उसका विषय रस, त्वचा और उसका विषय स्पर्श, मन और उसका विषय धर्म—ये सभी जल रहे हैं। रागाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि इन्हें जला रही हैं।

८. जन्म, जरा, मृत्यु, शोक और दुःख को जानकर श्रुतवान आर्य-श्रावक (गृहस्थ) को चाहिए कि चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण, और गंध, जिह्वा और रस, त्वचा और स्पर्श तथा मन और धर्म में आसक्त न हो, निर्वेद के द्वारा विराग-निधि प्राप्त कर ले।

९. विराग होने पर मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है और तभी उसका जन्मक्षय होता है। ब्रह्मचर्य-व्रत भी तभी समाप्त होता है। मनुष्य फिर यहां आकर जन्म नहीं लेता।

१०. मैं जराधर्मी हूं, व्याधिधर्मी हूं, मरणधर्मी हूं, इन समास्त प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से निश्चय ही एक दिन वियोग होगा। मैं जो बुरा या अच्छा काम करूंगा, उसका मुझे ही भागीदार होना पड़ेगा। अत: कर्म ही मेरा धन है और कर्म ही मेरा मित्र।

११. 'मैं जराधर्मी हूं', ऐसा विचार करने से मनुष्य का यौवन-मद नष्ट हो जाता है। इस तारुण्य-मद के कारण मनुष्य काया, वचन और मन से पाप करता है, पर जो यह स्मरण रखता है कि मैं स्वयं जराधर्मी हूं, उसका यह मद नष्ट हो जाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१२. 'मैं व्याधिधर्मी हूं' इस बात का चिंतन करने से यह लाभ होता है कि जिस आरोग्य-मद के कारण मनुष्य त्रिविध पापों का आचरण करता है, वह नष्ट हो जाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१३. 'मैं मरणधर्मी हूं' इस बात का चिंतन करने से मनुष्य का जीवन-मद नष्ट हो जाता है। यही इस चिंतन का लाभ है।

१४. 'तमाम प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से एक दिन वियोग होने को है,' इस बात का स्मरण रखने से मनुष्य प्रिय वस्तु अथवा प्रियजन के अर्थ पापाचरण करने में प्रवृत्ति नहीं होता, और न उसे वियोग-दुःख का ही भाजन बनना पड़ता है।

१५. जिस वस्तु का जन्म हुआ है, उनका नाश न हो, क्या यह शक्य है?

१—४. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त) ५—९. बुद्धदेव (जगन्मोहन वर्मा) १०—१४ बु.ली. स. (पृ. २६३) १५. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

: २० :

वाद-विवाद

१. निंदा और स्तुति दोनों ही विवाद के विषफल हैं। ये क्षुद्र वस्तुएं चित्त के उपशमन की कारणभूत नहीं बनतीं। अतः विवाद कल्याणप्रद नहीं, ऐसा जानेवाला कभी विवाद में न पड़े।

२. प्र०—जिसे कुछ लोग पराधर्म मानते हैं, उसे ही कुछ लोग हीन धर्म मानते हैं—ये सभी जब अपने को कुशल समझते हैं, तो फिर उनमें कौन वाद सच्चा है ?

३. उ०—वे कहते हैं कि हमारा ही धर्म परिपूर्ण है, और दूसरों का धर्म हीन है। इस प्रकार लड़ाई-झगड़ा खड़ा करके वे वाद-विवाद करते हैं और कहते हैं कि हमारी ही दृष्टि सच्ची है।

४. दूसरों की हुई निन्दा से ही हीन ठहरने लगे, तो फिर कोई भी पंथ श्रेष्ठ नहीं ठहर सकता, सभी अपने-अपने पंथ को दृढ़ (नित्य) और दूसरों के पंथ को हीन कहते हैं।

५. जिस तरह वे अपने पंथ की स्तुति करते हैं, वैसे ही उनकी सद्धर्म की पूजा है। ऐसा होने पर तो सभी पंथ सच्चे हो सकते हैं, क्योंकि उनकी अपनी समझ में तो उनके यहां शुद्धि है ही।

६. ब्राह्मण को दूसरों से कुछ सीखना नहीं है। उनका यह आग्रह नहीं है। उसकी दृष्टि श्रेष्ठ है। वह तो वाद-विवाद से परे चला जाता है, क्योंकि वह यह नहीं मानता कि कोई दूसरा धर्मपथ श्रेष्ठ है।

७. कुछ लोग यह समझते हैं कि जैसे हम जानते हैं, जैसे हम देखते हैं, केवल वही ठीक है और शुद्धि इसी दृष्टि से होगी। पर बुद्ध शुद्धि दूसरे ही रास्ते से बताते हैं।

८. देखनेवाला केवल नामरूप ही देखेगा और उसे देखकर उतना ही उसे ज्ञान होगा। वह न्यून अथवा अधिक भले ही देखे, पर विज्ञजन इतने से ही शुद्धि नहीं मानते।

९. अपने कल्पित किये हुए मत को महत्त्व देनेवाले हठपूर्वक वाद-विवाद करनेवाले मनुष्य को उपदेश से समझाना या शांत करना कठिन है। जिस मत का वह आश्रय लेता है, उसी में कल्याण है और उसी में शुद्धि है, ऐसा वह कहता है और ऐसा ही वह मानता है।

१०. किन्तु ब्राह्मण की बात तो निराली है, वह कभी विकल्प में नहीं पड़ता। वह भिन्न-भिन्न मतों को जानता है, और उन मतों की उपेक्षा करता है, जिन्हें दूसरे लोग सीखते हैं।

११. इस जगत में ग्रंथि का त्याग करके विवादापन्न लोगों के बीच मुनि पक्षपाती नहीं होता। वह इस अशांत लोक में शांत और उपेक्षक बना रहता है। वह उन मतों को नहीं सीखता, जिन्हें दूसरे लोग सीखते हैं।

१२. तृष्णा, काम, भय, दृष्टि और अविद्या, इन पूर्व के आस्रवों-प्रवाहों को तोड़कर वह नये आस्रवों का संचय नहीं करता, साम्प्रदायिक मत-मतांतरों से वह मुक्त हो जाता है और इस जगत्-पाश में बद्ध नहीं होता।

१३. जो सम, अधिक या न्यून समझता है, वही विवाद करता है। तीनों भेदों में जो अचल है, उसकी दृष्टि में सम क्या, अधिक क्या और न्यून क्या? जिसमें सम-विषम नहीं है, वह विवाद करे तो क्या और किसके साथ?

१४. सभी लोग इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि पंथ तो हमारा ही शुद्ध है, दूसरों के पंथों में शुद्धि कहां? जिस पंथ का हमने आश्रय लिया है, उसी पंथ में श्रेय है, ऐसा कहनेवाले अपने को भिन्न-भिन्न पंथों में बांध लेते हैं।

१५. वे लोग वाद-विवाद करने के इरादे से सभा में जाकर एक-दूसरे को मूर्ख ठहराते हैं। अपने को शास्त्रार्थ में कुशल समझनेवाले वे लोग वाहवाही लूटने की इच्छा से ही वाद-विवाद करते हैं।

१६. सभा में जब वे शास्त्रार्थ करते हैं तब प्रशंसा लूटने की इच्छा से दूसरों पर वाणी का प्रहार करने लगते हैं। यदि वाद में वे हार जाते हैं तो मारे शर्म के मुंह छिपा लेते हैं और जब उनकी निंदा होती है तो क्रोध में आकर दूसरों के दोष ढूंढ़ने लगते हैं।

१७. वाद-विवाद में पड़कर मनुष्य या तो दूसरों पर आघात कर बैठता है या स्वयं अपने को ही चोट पहुंचाता है। विवाद में यह विष देखकर उससे निवृत्त हो जाना ही अच्छा है, कारण कि उसमें सिवा एक प्रशंसा-लाभ के और कोई भी लाभ नहीं।

१८. सभा में कभी-कभी दूसरों के वाद को भंग करके प्रशंसा प्राप्त करते हैं और इसमें उन्हें बड़ा हर्ष होता है। विजय के गर्व में आसमान की ओर सिर उठाकर चलते हैं। सभा में विजय क्या होती है, मानो उनका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

१९. पर उनका यह विजय-गर्व ही अंत में उनके अधःपात का कारण होता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को वाद-विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिए। वाद-विवाद से तो कुछ अन्तःशुद्धि होती नहीं, तब फिर अहंकार बढ़ाने से लाभ ?

२०. वाद-विवाद के युद्ध में प्रवृत्त करनेवाला मेरा अहंकार पहले ही नष्ट हो चुका है, अब विवाद करूं तो कैसे ?

२१. जिन्होंने प्रतिपक्ष-बुद्धि को नष्ट कर दिया है और जो अपने पंथ की खातिर दूसरे पंथों के साथ विरोध-भाव नहीं रखते, जिनका यहां अपना कुछ नहीं है, उनके पास जाकर, अरे वादी, तुझे क्या मिलने को है ?

२२. मनुष्य अपने-अपने मत से चिपटकर और दूसरों के साथ वाद-विवाद करके अपने को कुशल कहलाना चाहते हैं। कहते हैं कि वे ही धर्म के ज्ञाता हैं, और जो विरोधी हैं, वे हीन हैं।

२३. इस प्रकार झगड़ा-टंटा खड़ा करके ये वाद-विवाद करते हैं। दूसरों को ये मूर्ख और अकुशल कहनेवाले हैं। इनमें से किसका वाद सच्चा है ?

२४. दूसरों के धर्म को न जाननेवाला मनुष्य यदि मूर्ख, पशु और हीन बुद्धि ठहराया जाय, तो फिर इन सांप्रदायिक मतों से चिपटे रहनेवाले सभी मूर्ख और हीन बुद्धि ठहरेंगे।

२५. ये जो एक-दूसरे को मूर्ख कहते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि ये अपने-अपने मत को ही सत्य मानते हैं और एक-दूसरे को मूर्ख ठहराते हैं।

२६. कुछ लोग जिसे युक्ति-युक्त सत्य मानते हैं, उसे ही दूसरे तुच्छ और असत्य बताते हैं और इस तरह व्यर्थ को टंटा खड़ा करके वाद-विवाद करते हैं।

२७. हमारे ही मत में अत्यंत सार है, इस प्रकार के विचार को आश्रय देकर ये वाद-विवादी लोग अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं। अहंकार में मत्त हो ये पूर्ण अभिमानी बन बैठे हैं। अपने मान से ही अपने को अभिषिक्त कर रहे हैं। यह सब सांप्रदायिकता को गले से लगाने का परिणाम नहीं तो क्या है?

२८. 'शुद्धि तो पंथ में है', ऐसा ये प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि दूसरे पंथों में शुद्धि नहीं। इस प्रकार अपने पंथ को दृढ़ बतलानेवाले ये संप्रदाय-पंथी भिन्न-भिन्न पंथों में निविष्ट हो रहे हैं।

२९. जिस मनुष्य ने समस्त रूढ़ मतों को छोड़ दिया है, वह फिर किसी के साथ वाद-विवाद नहीं करता।

३०. अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद में पड़ता है। निश्चल मनुष्य को क्या पड़ा है कि वह किसी के साथ वाद-विवाद करे? जो न आत्मवाद में फंसा है, न उच्छेदवाद में, उसके पास सांप्रदायिकता का काम ही क्या? उसने तो सारी सांप्रदायिकता धो डाली है। फिर वह क्यों और किसके साथ वाद-विवाद करे?

१—१२. सु. नि. (महावियूह सुत्त) १३. बु. च. (मागंदिसुत्तंत) १४—२१. अट्ठक वग्ग (पसूर सुत्त) २२—२९. सु. नि. (चल वियूह सुत्त) ३०. सु. नि. (तुवटठक सुत्त)

: २१ :

गृहस्थ के कर्त्तव्य

१. जिस आर्यश्रावक (गृहस्थ) को छह दिशाओं की पूजा करनी हो, वह चार कर्म-क्लेशों से मुक्त हो जाय। जिन चार कारणों के वश होकर मूढ़ मनुष्य पापकर्म करने में प्रवृत्त होता है, उनमें से उसे किसी भी कारण के वश नहीं होना चाहिए और संपत्ति-नाश के उसे छहों दरवाजे बंद कर देने चाहिए।

२. छह दिशाओं से यहां क्या तात्पर्य है? माता-पिता को पूर्व-दिशा, गुरु को दक्षिण दिशा, पत्नी को पश्चिम दिशा, बंधु-बांधव को उत्तर दिशा, दास और श्रमिक को नीचे की दिशा तथा साधु-संत को ऊपर की दिशा समझना चाहिए।

३. चार कर्म-क्लेश क्या हैं? हिंसा, चोरी, व्यभिचार और असत्य-भाषण, ये चार कर्म-क्लेश हैं। गृहस्थ को इनसे हमेशा दूर रहना चाहिए।

४. किन चार कारणों के वश होकर मूढ़जन पाप-कर्म करते हैं? स्वेच्छाचार, द्वेष, भय और मोह के कारण अज्ञजन पाप करते हैं। आर्यश्रावक को इनमें से किसी कारण के वश होकर पाप-कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

५. संपत्ति-नाश के छह दरवाजे कौन-से हैं? मद्यपान, रात में आवारागर्दी, नाच-तमाशे का व्यसन, जुआ, दुष्ट मनुष्यों की संगति और आलस्य।

६. मद्यपान के व्यसन से संपत्ति का नाश होता है, इसमें तो

संदेह ही नहीं। फिर मद्यपान से कलह बढ़ता है और वह रोगों का घर तो है ही। इससे अपकीर्ति भी पैदा होती है। यह व्यसन लज्जा को नष्ट और बुद्धि को क्षीण कर देता है। मद्यपान के छह दुष्परिणाम हैं।

७. जिसे रात में इधर-उधर घूमने-फिरने का चसका लग जाता है, उसका शरीर स्वयं अरक्षित रहता है। उसकी स्त्री और बाल-बच्चे भी सुरक्षित नहीं रह सकते। वह अपनी संपत्ति नहीं संभाल सकता। उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि कहीं कोई मुझे पहचान न ले। उसे झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है और वह अनेक कष्टों में फंस जाता है।

८. नाच-तमाशे देखने में भी कई दोष हैं। नाच-तमाशा देखनेवाला हमेशा इसी परेशानी में पड़ा रहता है कि आज कहां नाच है, कहां तमाशा है, कहां गाना-बजाना है। अपने काम-धंधे का उसे स्मरण तक नहीं रहता।

९. जुआरी आदमी जुए में अगर जीत गया, तो दूसरे जुआरी उससे ईर्ष्या करने लगते हैं और अगर हार गया तो उसे भारी दुःख होता है और उसके धन का नाश तो होता ही है, उसके मित्र और उसके सगे-सम्बन्धी भी उसकी बात पर विश्वास नहीं करते। उनकी ओर से उसे बार-बार अपमान सहन करना पड़ता है। उसके साथ कोई नया रिश्ता नहीं जोड़ना चाहता, क्योंकि लोगों को यह लगता है कि यह जुआरी आदमी अपने कुटुंब का पालन-पोषण करने में असमर्थ है।

१०. अब दुष्टों की संगति का दुष्परिणाम सुनो। धूर्त, दारूखोर, लुच्चे, चोर आदि सभी तरह के नीच मनुष्यों का साथ होने से दिन-प्रतिदिन उसकी स्थिति गिरती ही जाती है, और अंत में वह हीन-से-हीन दशा को पहुंच जाता है।

११. आलस्य के फल भी महान भयंकर हैं। एक दिन आलसी आदमी इस कारण काम नहीं करता कि आज बड़ी कड़ाके की सरदी पड़ रही है और दूसरे दिन बेहद गरमी के कारण वह काम से जी चुराता है। किसी दिन कहता है कि अब तो सांझ हो गई है, कौन

काम करने जाय और किसी दिन वह कहता है कि अभी तो बहुत सवेरा है, काम का समय अभी कहां हुआ ? इस तरह आज का काम कल के ऊपर छोड़कर वह कोई नई संपत्ति का उपार्जन कर नहीं सकता और अपने पूर्वजों का पूर्वार्जित धन नष्ट करता जाता है।

१२. उपर्युक्त चारों कर्म-क्लेशों, चारों पाप-कारणों और छहों विपत्ति-द्वारों को त्याग करने के बाद गृहस्थ को छह दिशाओं की पूजा आरम्भ करनी चाहिए। उपर्युक्त प्रत्येक दिशा के पांच-पांच अंग हैं।

१३. माता-पितारूपी पूर्व दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं :

(१) उनका काम करना;
(२) उनका भरण-पोषण-करना;
(३) कुल में चले आये हुए सत्कर्मों को जारी रखना;
(४) माता-पिता की संपत्ति का भागीदार बनना;
(५) दिवंगत माता-पिता के नाम पर दान-धर्म करना।

यदि इन पाँच अंगों से माता-पिता को पूजा जाय, तो वे अपने पुत्र पर पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं :

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं,
(२) कल्याणकारक मार्ग पर उसे ले जाते हैं;
(३) उसे कला-कौशल सिखाते हैं;
(४) योग्य स्त्री के साथ उसका विवाह कर देते हैं;
(५) उपयुक्त समय आने पर अपनी संपत्ति उसे सौंप देते हैं।

१४. गुरुरूपी दक्षिण दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं :

(१) गुरु को देखते ही खड़े हो जाना;
(२) गुरु बीमार पड़ें तो उनकी सेवा करना;
(३) गुरु जो सिखायें, उसे श्रद्धापूर्वक समझ लेना;
(४) गुरु का कोई काम हो, तो कर देना;
(५) वह जो विद्या दें, उसे उत्तम रीति से ग्रहण करना।

शिष्य यदि इन पांच अंगों से गुरु की पूजा करता है, तो गुरु उस पर पांच प्रकार का अनुग्रह करता है :

(१) सदाचार की शिक्षा देता है;
(२) उत्तम रीति से विद्या पढ़ाता है;
(३) जितनी भी विद्याएं उसे आती हैं, उन.सबका ज्ञान शिष्य को करा देता है;
(४) अपने संबंधियों और मित्रों में उसके गुणों का बखान करता है;
(५) जब कहीं बाहर जाता है, तब ऐसी व्यवस्था कर देता है कि जिससे शिष्य को खाने-पीने की कोई अड़चन न पड़े।

१५. पत्नी-रूपी पश्चिम दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं :
(१) उसे मान देना;
(२) उसका अपमान न होने देना;
(३) एक पत्नीव्रत का आचरण करना;
(४) घर का कारबार उसे सौंपना;
(५) उसे वस्त्र और आभूषणों की कमी न पड़ने देना।

पति यदि इन पांच अंगों से पत्नी की पूजा करता है, तो वह अपने पति पर पांच प्रकार का अनुग्रह करती है :
(१) घर में सुंदर व्यवस्था रखती है;
(२) नौकर-चाकरों को प्रेम के साथ रखती है;
(३) पतिव्रता रहती है;
(४) पति उसे जो संपत्ति देता है उसकी रक्षा करती है, उसे उड़ाती नहीं।
(५) घर के सब काम-काजों में तत्पर रहती है।

१६. बंधु-बांधवरूपी उत्तर दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं :
(१) जो वस्तु उन्हें देने योग्य हो, वह उन्हें देना;
(२) उनसे मधुर वचन बोलना,
(३) उनके उपयोगी बनना;
(४) उनके साथ निष्कपट व्यवहार रखना;

(५) समान भाव से वर्ताव करना ।

जो आर्यश्रावक इन पांच अंगों से अपने बंधु-बांधवों की पूजा करता है, उस पर वे पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं :

(१) उस पर एकाएक संकट आ पड़ने पर वे उसकी रक्षा करते हैं;
(२) संकट-काल में वे उसकी संपत्ति की भी रक्षा करते हैं।
(३) विपत्ति में उसे धीरज बंधाते हैं;
(४) विपत्ति-काल में उसका त्याग नहीं करते;
(५) उसके वाद उसकी संतान पर भी उपकार करते हैं ।

१७. सेवकों को सूचित करनेवाली जो नीचे की दिशा है, उसकी पूजा के पांच अंग हैं :

(१) उनकी शक्ति देखकर उनसे काम करने को कहना;
(२) उन्हें यथोचित वेतन देना;
(३) बीमार पड़े तो उनकी सेवा-शुश्रूषा करना;
(४) यथावसर उन्हें उत्तम भोजन देना;
(५) समय-समय पर उनकी उत्तम सेवा के वदले उन्हें इनाम इत्यादि देना ।

इन पांच अंगों से मालिक अगर नौकरों की पूजा करता है, तो अपने मालिक पर वे पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं :

(१) मालिक के उठने से पहले उठते हैं;
(२) मालिक के सोने के वाद सोते हैं;
(३) मालिक के सामान की चोरी नहीं करते;
(४) उत्तम रीति से काम करते हैं;
(५) अपने मालिक का यश गाते हैं ।

१८. साधु-संतो की जो ऊपर की दिशा है, उसकी पूजा के ये पांच अंग हैं :

(१) शरीर से आदर करना;
(२) वचन से आदर करना;
(३) मन से आदर करना;

(४) भिक्षा के लिए आवें तो उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुंचाना;
(५) उन्हें उनके उपयोग की वस्तु देना।

इन पांच अंगों से जो आर्यश्रावक साधु-संतों की पूजा करता है, उस पर वे साधु-संत छह प्रकार का अनुग्रह करते हैं :

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं;
(२) कल्याणकारक मार्ग पर उसे ले जाते हैं;
(३) प्रेमपूर्वक उस पर दया करते हैं;
(४) उसे उत्तम धर्म की शिक्षा देते हैं;
(५) शंका-निवारण करके उसके मन का समाधान करते हैं;
(६) उसे सुगति का मार्ग दिखा देते हैं।

१६. दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या और समानात्मकता, अर्थात, दूसरों को अपने समान समझना, ये लोक-संग्रह के चार साधन हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन चारों साधनों का उपयोग करके जगत में उच्चपद प्राप्त करता है।

१—१६. बु. च. (सिगालोवाद सुत्त)

: २२ :

चार संवास

१. संवास चार प्रकार का होता है :

(१) शव शव के साथ वास करता है ;

(२) शव देवी के साथ संवास करता है ;

(३) देव शव के साथ संवास करता है ;

(४) देव देवी के साथ संवास करता है ।

२. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शराबी, दुःशील, पापी, कृपण और कटुभाषी होता है, और उसकी पत्नी भी वैसी ही दुष्टा होती है, वहां शव शव के पास वास करता है।

३. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शराबी, दुःशील पापी, कृपण और कटुभाषी होता है, और उसकी पत्नी अहिंसक, अचौर, सदाचारिणी, सच्ची, नशा न करनेवाली, सुशीला, पुण्यवती, उदार और मधुरभाषिणी होती है, वहां शव देवी के साथ संवास करता है।

४. जिस घर में पति अहिंसक, अचौर, सदाचार, सच्चा, मद्यविरत, सुशील, पुण्यात्मा, उदार और मधुरभाषी होता है, और उसकी पत्नी हिंसक, चोर, दुराचारिणी, झूठी, नशा करनेवाली, दुःशीला, पापिनी, कंजूस और कटुभाषिणी होती है, वहां देव शव के साथ संवास करता है।

५. जिस घर में पति-पत्नी दोनों ही अहिंसक, अचौर, सदाचाररत, नशा-विरत, सुशील, पुण्यात्मा, उदार और मधुभाषी होते हैं, वहां देव देवी के साथ संवास करता है ।

१—५. अं. नि. (४ : २, १ : ३)

: २३ :

मित्र और अमित्र

१. जो मद्यपानादि के समय या आंखों के सामने प्रिय बन जाता है, वह सच्चा मित्र नहीं। जो काम निकल जाने के बाद भी मित्र बना रहता है, वही मित्र है।

२. इन चारों को मित्र के रूप में अमित्र समझना चाहिए :

(१) दूसरों का धन हरण करनेवाला ;

(२) कोरी बातें बनानेवाला ;

(३) सदा मीठी-मीठी चाटुकारी करनेवाला ;

(४) हानिकारक कामों में सहायता देनेवाला।

३. जो बुरे काम में अनुमति देता है, सामने प्रशंसा करता है, पीठ-पीछे निंदा करता है, वह मित्र नहीं, अमित्र है।

४. जो मद्यपान-जैसे प्रमाद के कर्मों में साथ और आवारागर्दी में प्रोत्साहन देता है और कुमार्ग पर ले जाता है, वह मित्र नहीं, अमित्र है। ऐसे शत्रु-रूपी मित्र को खतरनाक रास्ते की भांति छोड़ देना चाहिए।

५. वास्तविक सुहृद इन चार प्रकार के मित्रों को समझना चाहिए :

(१) सच्चा उपकारी ;

(२) सुख-दुःख में समान साथ देनेवाला;

(३) अर्थप्राप्ति का उपाय बतानेवाला ;

(४) सदा अनुकंपा करनेवाला।

६. जो प्रमत्त, अर्थात भूल करनेवाले की और उसकी संपत्ति की रक्षा करता है, भयभीत को शरण देता है, और सदा अपने मित्र का लाभ दृष्टि में रखता है, उसे उपकारी सुहृद समझना चाहिए।

७. जो अपना गुप्त भेद मित्र को बतला देता है, मित्र की गुप्त बात को गुप्त रखता है, विपत्ति में मित्र का साथ देता है और उसके लिए अपने प्राण भी होम करने को तैयार रहता है, उसे ही सच्चा सुहृद समझना चाहिए।

८. जो पाप का निवारण करता है, पुण्य का प्रवेश कराता है और सुगति का मार्ग बतलाता है, वही 'अर्थ-आख्यायी,' अर्थात अर्थ प्राप्ति का उपाय बतलानेवाला सच्चा सुहृद है।

९. जो मित्र की बढ़ती देखकर प्रसन्न होता है, मित्र की निन्दा करनेवाले को रोकता है, और प्रशंसा करने पर प्रशंसा करता है, वही अनुकम्पक मित्र है।

ऐसे मित्रों की सत्कारपूर्वक माता-पिता और पुत्र की भांति सेवा करनी चाहिए।

१०. जगत में विचरण करते-करते अपने अनुरूप यदि कोई सत्पुरुष न मिले तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे; मूढ़ के साथ मित्रता नहीं निभ सकती।

११. जो छिद्रान्वेषण किया करता है और मित्रता टूट जाने के भय से सावधानी के साथ बर्तता है, वह मित्र नहीं है।

पिता के कंधे पर बैठकर जिस प्रकार पुत्र विश्वस्त रीति से सोता है, उसी प्रकार जिसके साथ विश्वासपूर्वक बर्ताव किया जा सके और दूसरे जिसे फोड़ न सकें, वही सच्चा मित्र है।

१२. अकेले विचरना अच्छा, किंतु मूर्ख मित्र का सहवास अच्छा नहीं।

१३. यदि कोई होशियार, सुमार्ग पर चलनेवाला और धैर्यवान साथी मिल जाय, तो सारी विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए भी उसके साथ रहना चाहिए।

१—९. दी. नि. (सिगालोवाद सुत्त) १०. ध. प. (बाल वग्गो) ११. सु. नि. (हिरि सुत्त) १२. बु. व. (पारिलेय्यक सुत्त) १३. सु. नि. (खग्गविसाण सुत्त)

: २४ :

जाति नैसर्गिक कैसी ?

१. जाति मत पूछ, तू तो बस एक आचरण पूछ। देख, आग चाहे जैसे काष्ठ से पैदा होती है। इसी प्रकार 'नीच कुल' का मनुष्य भी धृतिमान, सुविज्ञ और निष्पाप मुनि होता है।

२. तो क्या तुम ऐसा मानते हो कि यहां मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा विविध जातियों के सौ मनुष्यों को एकत्र करे और उनसे कहे, "आप सब, जो क्षत्रिय-कुल से ब्राह्मण-कुल से और राजन्य-कुल से उत्पन्न हैं, यहां आवें—और साखू की या शाल वृक्ष की अथवा चंदन की या पद्मकाष्ठ की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें—

"और, आप लोग भी आवें, जो चांडाल-कुल से, निषाद-कुल से, वसोर-कुल से, रथकार-कुल से और पुक्कस-कुल से उत्पन्न हुए हैं, और कुत्ते के पीने की, सुअर के पीने की कठौती (कठरी), धोबी की कठौती या रेंड की लकड़ी की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें।"

तो क्या तुम मानते हो कि क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रकुलों से उत्पन्न पुरुषों द्वारा साखू-शाल-चंदन-पद्म की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, जो तेज पैदा किया गया है, वही अर्चिमान् (लौवाली), वर्णमान और प्रभास्वर अग्नि होगी ?

और, चांडाल-निषाद-वसोर-रथकार-पुक्कस-कुलोत्पन्न पुरुषों द्वारा स्व-पान कठरी की, शकूर-पान कठरी की तथा रेंड-काष्ठ की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गयी है, जो तेज पैदा किया गया है, वह अर्चि-मान्, वर्णमान् और प्रभास्वर अग्नि न होगी ? क्या इस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा ?

३. यह तो तुम जानते ही हो कि जीव-जंतुओं में एक-दूसरे से बहुत-सी विभिन्नताएं और विचित्रताएं पाई जाती हैं और उनमें श्रेणियां भी अनेक हैं।

इसी प्रकार वृक्षों और फलों में भी विविध प्रकार के भेद-प्रभेद देखने में आते हैं, उनकी जातियां भी कई प्रकार की हैं।

देखो न, सांप कितनी जातियों के हैं। जलचरों और नभचरों के भी असंख्य स्थिर भेद हैं, जिनसे उनकी जातियां लोक में भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं।

४. परंतु मनुष्यों में ? मनुष्यों के शरीर में तो ऐसा कोई भी पृथक चिह्न (लिंग), भेदक चिह्न कहीं देखने में नहीं आता। उनके केश, सिर, कान, आंख, मुख, नाक, गर्दन, कंधा, पेट, पीठ, हथेली, पैर, नाखून आदि अंगों में कहां है, वैसी विभिन्नताएं ?

५. जो मनुष्य गाय चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं।

६. जो व्यापार करता है वह व्यापारी ही कहलायेगा, और शिल्प करने वाले को हम शिल्पी ही कहेंगे, ब्राह्मण नहीं।

७. दूसरों की परिचर्या करके जो अपनी जीविका चलाता है, वह परिचर ही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं।

८. अस्त्र-शस्त्रों से अपना निर्वाह करने वाला मनुष्य सैनिक ही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं।

९. अपने कर्म से कोई किसान है तो कोई शिल्पकार। कोई व्यापारी है तो कोई अनुचर। कर्म पर ही यह जगत स्थित है। अपने कर्म से ही एक मनुष्य ब्राह्मण बन सकता है और दूसरा अब्राह्मण।

१०. प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी और झूठी धारणावाला चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय अथवा वैश्य हो या शूद्र, मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होगा, नरकगामी होगा।

११. क्या केवल ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा, चोरी, दुराचार झूठ, चुगलखोरी, कटुवचन, बकवाद, लोभ और द्वेष से लिप्त होकर दुर्गति

को प्राप्त हो सकता है ? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं ?

१२. क्या केवल ब्राह्मण ही वैर-रहित और द्वेष-रहित होकर मैत्री की भावना कर सकता है ? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं ? ऐसी भावना ब्राह्मण भी कर सकता है, क्षत्रिय भी कर सकता है, वैश्य भी कर सकता है और शूद्र भी कर सकता है।

१३. क्या ब्राह्मण ही मांगलिक स्नानचूर्ण लेकर नदी में मैल धो सकता है ? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं ?

१४. दो जुड़वां भाई हैं। एक तो अध्ययनशील और उपनीत, किंतु दुराचारी और पापी हैं; दूसरा अन्-अध्ययन शील, अन्-उपनीत, किंतु शीलवान और धर्मात्मा है। इनमें से यज्ञ अथवा आतिथ्य में प्रथम भोजन आप किसे करायेंगे ? उसी को न, जो अन्-अध्ययनशील और अन्-उपनीत होते हुए भी शीलवान और धर्मात्मा है ?

१५. माता-पिता के रज-वीर्य से जन्म लेनेवाला जीव न क्षत्रिय होता है, न ब्राह्मण—न वैश्य होता है, न शूद्र।

१६. उच्चकुलवाला भी प्राणि-हिंसक, चोर, मिथ्याचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी और द्वेषी होता है। इसलिए मैं उच्च कुलीनता को श्रेय नहीं देता। साथ ही उच्च कुलीनता को 'पापीय' भी नहीं कहता, क्योंकि उच्च कुलवाला मनुष्य भी अहिंसक, अचौर, मिथ्याचार-विरत, अद्वेषी आदि होता है।

१७. नीचकुलोत्पन्न भी, इसी तरह हिंसक होता है और अहिंसक भी; सच्चा होता है और झूठा भी; लोभी होता है और लोभ-विरत भी; द्वेषी होता है और अद्वेषी भी।

१८. जिस आश्रय को लेकर आग जलती है, वही उसकी संज्ञा होती है। काष्ठ से जलने वाली आग की संज्ञा काष्ठ-अग्नि, और गोमय (उपले) के आश्रय से जलनेवाली आग की संज्ञा गोमय-अग्नि होती है। किंतु आग का काम इन सभी अग्नियों से लिया जा सकता है।

१९. यवन और कम्बोज तथा दूसरे भी सीमांत प्रदेशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। मनुष्य वहां भी आर्य से दास हो सकता है और दास से आर्य। फिर इसका कोई अर्थ नहीं कि अमुक वर्ण ही

जन्मना श्रेष्ठ है।

२०. जो मनुष्य जातिवाद और गोत्रवाद के बंधन में बंधे हुए हैं, वे अनुपम विद्याचरण-संपदा से दूर ही हैं।

---

१. बु. च. (अतदीप सुत्त) २. म. नि (अस्सलायण सुत्तंत) ३—१०. म. नि. (वासेठ्ठ सुत्तंत) ११—१५. म. नि. (अस्सलायण सुत्तंत) १६—१८. म. नि. (फसुरकारि सुत्तंत) १९. म. नि. (अस्सलायण सुत्तंत २०. बु. च. (अबठ्ठ सुत्त)

: २५ :

ब्राह्मण किसे कहें ?

१. ब्राह्मण मैं उसे कहता हूं, जो अपरिग्रही है, जिसने समस्त बंधन काटकर फेंक दिये हैं। जो भय-विमुक्त हो गया है और संग एवं आसक्ति से विरत है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं।

२. जो बिना चित्त बिगाड़े गाली, हनन और बंधन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसका सेनानी है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं।

३. जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान है, बहुश्रुत है, संयमी है और अंतिम शरीरवाला है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

४. कमल के पत्ते पर जल की भांति और आरे की नोक पर सरसों की तरह जो विषय-भोगों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूं।

५. चर-अचर सभी प्राणियों में प्रहार-विरत हो जो न मारता है और न मारने की प्रेरणा ही देता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

६. जो इस प्रकार की अकर्कश, आदरयुक्त और सत्यवाणी बोलता है कि जिससे जरा भी पीड़ा नहीं पहुंचती, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

७. बड़ी हो चाहे छोटी, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसार में किसी भी बिना दी हुई चीज को नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

८. जिसने यहां पुण्य और पाप दोनों की ही आसक्ति छोड़ दी है, और जो शोकरहित, निर्मल और परिशुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

९. मानुष भोगों का लाभ छोड़ दिव्य भोगों के लाभ को भी जिसने

लात मार दी है, किसी लाभ-लोभ में जो आसक्त नहीं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१०. राग और घृणा का जिसने त्याग कर दिया है, जिसका स्वभाव शीतल है और जो क्लेश-रहित है, ऐसे सर्व-लोक-विजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

११. जिसके पूर्व, पश्चात और मध्य में कुछ नहीं है, और जो पूर्णतया परिग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१२. जो ध्यानी, निर्मल, स्थिर, कृतकृत्य और आश्रव (चित्तमल) से रहित है, जिसने सत्य को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१३. जो न मन से पाप करता है, न वचन से और न काया से; मन वचन और काया पर जिसका संयम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१४. न जटा रखने से कोई ब्राह्मण होता है, न अमुक गोत्र से, और न जन्म से ही। जिसने सत्य और धर्म का साक्षात्कार कर लिया, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

१५. जो गम्भीर प्रज्ञावाला है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता है और जिसने सत्य पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१६. जिसने घृणा का क्षय कर दिया है, जो भली-भांति जानकर अकथ पद का कहनेवाला है और जिसने अगाध अमृत प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१७. जो पूर्वजन्म को जानता है, सुगति और अगति को जो देखता है और जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है तथा जो अभिज्ञान (दिव्य ज्ञान) परायण है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

१८. मूर्खों की धारणा में यह चिरकाल से घुसा हुआ है कि "ब्राह्मण जन्म से होता है।" ज्ञानी पुरुष यह कदापि नहीं कहेंगे कि ब्राह्मण जन्म से होता है।

१९. अमुक माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी मनुष्य को ब्राह्मण नहीं कहता।

२०. जो पुरोहिताई करके अपनी जीविका चलाता है, वह ब्राह्मण नहीं, याचक है।

२१. ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिए और ब्राह्मण को भी उस प्रहारक पर कोप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण पर जो प्रहार करता है, उसके लिए धिक्कार है, और उसे भी धिक्कार है, जो उसके लिए कोप करता है।

२२. प्राचीन ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न सुवर्ण, न धान्य। उनके पास तो एक स्वाध्याय का ही धन-धान्य था। वे तो ब्रह्म-निधि के धनी थे।

२३. वे संयतात्मा और तपस्वी थे। विषय-भोगों को छोड़कर वे सदा ज्ञान और ध्यान में ही निरत रहते थे।

२४. विविध वर्ण के वस्त्रों, सेजों अतिथिशालाओं से समृद्ध राष्ट्र उन ब्राह्मणों का अभिनंदन करते थे।

२५. ब्राह्मण अवध्य थे, अजेय थे और धर्म से अभिरक्षित थे।

२६. प्राचीन काल के वे ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष तक अखंड कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

२७. उस युग के ब्राह्मण विद्या और आचरण की खोज में रहते थे।

२८. वे लोग ब्रह्मचर्य, शील, अकुटिलता, मृदुता, तपस्या, सुप्रीति; अहिंसा और क्षमा के प्रशंसक थे।

२९. ब्राह्मण कौन ? जो निष्पाप है, निर्मल है, निरभिमान है, संयत है, वेदांत-पारंगत है, ब्रह्मचारी है, ब्रह्मवादी (निर्वाणवादी) और धर्म-प्राण है, वही ब्राह्मण है।

३०. जिसने सारे पाप अपने अन्तःकरण से दूर कर दिये हैं, अहंकार की मलिनता जिसकी अन्तरात्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकती, जिसका ब्रह्मचर्य परिपूर्ण है, जिसे लोक के किसी भी विषय की तृष्णा नहीं है, जिसने अपनी अन्तर्दृष्टि से ज्ञान का अन्त देख लिया, वही अपने को यथार्थ रीति से ब्राह्मण कह सकता है।

१—११. म. नि. (वासेठ्ठ सुत्तंत); १२—१७ ध. प. (ब्राह्मण-वग्गो); १८—२०. म. नि. (वासेठ्ठ सुत्तंत); २१. ध. प. (ब्राह्मण-वग्गो) २२—२८. बु. च. (ब्राह्मण धम्मिय सुत्तंत); २९. वि. पि. (महावग्ग); ३०. वि. पि. (महावग्ग)।

: २६ :

चांडाल कौन ?

१. क्रोधी, वैर माननेवाला, पापी, गुणीजनों को दोष देनेवाला, मिथ्या दृष्टि रखनेवाला और मायावी मनुष्य ही वृषल अर्थात चांडाल है।

२. जो प्राणियों का वध करता है, प्राणियों के ऊपर जो दयाभाव नहीं रखता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

३. जो गांवों और नगरों को लूटता और वीरान कर देता है, दुनिया में जो लुटेरे के नाम से पहचाना जाता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

४. जो मनुष्य कर्ज तो लेता है, पर जब देनदार मांगने आता है तो साफ नट जाता है और कहता है कि मुझे तो तेरा कुछ देना ही नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

५. जो अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा पैसे के लिए झूठ बोलता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

६. जो बलात्कार से अथवा प्रेम से अपने इष्ट-मित्रों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

७. जो समर्थ होते हुए भी अपने वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

८. लाभ का हितकर उपाय पूछने पर जो हानिकारक उपाय सुझाता है अथवा संदिग्ध वचन बोलता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

९. जो दूसरे के घर जाकर उनका आतिथ्य स्वीकार करता है,

पर यदि वे लोग कभी उसके घर आ जायं, तो वह उनका आदर-सत्कार नहीं करता, वह चांडाल नहीं तो क्या है ?

१०. जो अहंभाव के कारण आत्म-स्तुति और पर-निंदा करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

११. जो मनुष्य क्रोधी, कृपण, मत्सरयुक्त, शठ और निर्लज्ज होता है और जिसे लोकनिंदा के भय की तनिक भी परवाह नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

१२. जो अनर्ह (अयोग्य) होकर भी अपने को योग्य समझता है, वह ब्रह्मलोक में चोर है और ऐसे पुरुष को वृषलाधम (नीचातिनीच चाँडाल) कहते हैं।

१३. केवल जन्म से कोई वृषल या चांडाल नहीं होता और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है। कर्म से ही मनुष्य चांडाल होता है, और कर्म से ही ब्राह्मण।

१—१३. सु. नि. (वसल सुत्त)

भिक्षु

१. जिस भिक्षु ने शंकाओं का प्रवाह पार कर लिया है, जिसने तृष्णा का शल्य निकालकर फेंक दिया है, निर्वाण में जिसकी लौ लगी हुई है, जो निर्लोभी है और सदेवक जगत का नेता है, उसे मार्गजिन भिक्षु कहते हैं।

२. निर्वाण-पद को जानकर जो धर्मोपदेश तथा धर्म का विवेचन करता है, उस शंका-निवारक भिक्षु को मार्गदेशक भिक्षु कहते हैं।

३. उत्तम रीति से उपदिष्ट धर्म-मार्ग में जो संयमी है, स्मृतिवान है और निर्दोष पदार्थों का सेवन करता है, उसे मार्गजीवी भिक्षु कहते हैं।

४. साधुओं का वेश धारण करके संघ में जबर्दस्ती घुस आनेवाला धृष्ट भिक्षु गृहस्थों की अपकीर्ति फैलाता है और मायावी, असंयमी तथा ढोंगी होते हुए भी साधु के रूप में दुनिया को ठगता फिरता है; उसे मार्गदूषक भिक्षु कहते हैं।

५. संघ में कोई गृहासक्त, पापेच्छ, पाप-संकल्पी और पापाचारी भिक्षु देखने में आये, तो तुम सब मिलकर उसका बहिष्कार कर दो, उस कचरे को फेंक दो, संघ के उस सड़े हुए भाग को छील डालो।

६. काया और वचन से जो शांत है, भलीभांति जो समाहित अर्थात समाधियुक्त है, जिसने जगत के तमाम लोभों को अस्वीकार कर दिया है, उसे उपशांत भिक्षु कहते हैं।

७. जो भिक्षु अपनी तरुणाई में बुद्ध के शासन (बुद्ध-धर्म) में योग देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे मेघों से

मुक्त चंद्रमा।

८. अतिशय प्रमोदयुक्त और बुद्ध-शासन में प्रसन्नचित्त भिक्षु उस सुखमय प्रशांत पद को प्राप्त कर लेता है, जिसमें मनुष्य की समस्त वासनाएं शांत हो जाती हैं।

९. जो धर्म में रमण करता है, धर्म में रत रहता है और धर्म का चिंतन तथा धर्म का अनुसरण करता है, वह भिक्षु सद्धर्म से पतित नहीं होता।

१०. जो भिक्षु मैत्री की भावना से विहार करता है और बुद्ध के शासन (धर्म) में श्रद्धावान रहता है, वह सुखमय शांतपद को प्राप्त कर लेता है, उसकी समस्त वासनाएं शांत हो जाती हैं।

११. भिक्षु को अपनी निंदा सुनकर अस्वस्थ और स्तुति सुनकर गर्वोन्मत्त नहीं होना चाहिए। लोभ, मात्सर्य, क्रोध और निंदा का उसे सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

१—४. सु. नि. (चंद सुत्त); ५. सु. नि. (धम्मचरिय सुत्त)
६—१०. ध. प. (भिक्खु वग्गो) ११. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त)

: २८ :

सम्यक् परिव्राजक

१. जो लौकिक एवं दिव्य काम-सुख में आसक्त नहीं, वही धर्मज्ञ भिक्षु संसार का अतिक्रमण करके सम्यक् परिव्राजक हो सकता है।

२. जो भिक्षु निंदा, क्रोध और कृपणता का त्याग कर देता है, वह अनुरोध-विरोध से मुक्त होकर इस जगत में सम्यक् परिव्राजक कहा जाता है।

३. प्रिय और अप्रिय का त्याग करके जो अनासक्त, अनाश्रित तथा संयोजनों से विमुक्त है, वही इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

४. उपाधि को जो निस्सार समझता है और ग्रहण करने से जो लोभ (छंदराग) का निरसन करता है, इस जगत में वही सम्यक् परिव्राजक है।

५. भलीभांति धर्म का तत्त्व समझकर जो मन, वचन और कर्म से दूसरों के साथ अविरोध रीति से बर्ताव करता है, जो निर्वाण-पद की इच्छा रखता है, उसी को मैं इस जगत में सम्यक् परिव्राजक कहूंगा।

६. लोभ और आसक्ति को छोड़कर जो छेदन-बंधन से विरत हो गया है, शंकाओं को पार कर गया है और जिसके हृदय से तृष्णा का शल्य निकल गया है, वही भिक्षु इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

७. अपना कर्त्तव्य-धर्म समझकर जो भिक्षु किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

८. जिसके आस्रव (दोष) क्षीण तथा अहंकार नष्ट हो चुका है,

जिसने काम-सुखों को लात मारकर संसार-समुद्र को पार कर लिया है और दांत, शांत और स्थिरात्मा है, वही इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

९. जो अतीत और अनागत, संस्कारों की कल्पना को पार कर गया है, जिसकी प्रज्ञा अत्यंत विशुद्ध है और जो समस्त आयतनों से मुक्त हो गया है, वही इस जगत में परिव्राजक है।

१०. 'आर्य सत्यों' को जानकर और धर्म को समझकर तथा आस्रवों का विनाश स्पष्टतापूर्वक देखकर जो समस्त उपाधियों का क्षय कर देता है, वही इस जगत में सम्यक् परिव्राजक है।

१—१०. सु. नि. (सम्मा परिब्बाजनिय सुत्त)

: २६ :

प्रश्नोत्तरी

१. प्रश्न—(१) जूठन क्या है ?
(२) दुर्गंध क्या है ?
(३) मक्खियां क्या हैं ?

उत्तर—(१) लोभ और राग जूठन हैं।
(२) द्रोह दुर्गंध है।
(३) अकुशल वितर्क अर्थात बुरे विचार मक्खियां हैं।

२. प्रश्न—(१) जगत का संयोजक क्या है ?
(२) उसकी विचारणा (चिंता) क्या है ?
(३) किस धर्म के नाश से उसे निर्वाण प्राप्त होता है ?

उत्तर—(१) लोभ या तृष्णा जगत का संयोजक है।
(२) वितर्क उसकी विचारणा है।
(३) तृष्णा के नाश से जगत को निर्वाण प्राप्त होता है।

३. प्रश्न—किस प्रकार के बर्ताव से मनुष्य के विज्ञान (चित्त) की धारा का निरोध होता है ?

उत्तर—आंतरिक और बाह्य वेदनाओं का अभिनंदन न करते हुए जो बर्तता है, उसका विज्ञान निरुद्ध हो जाता है।

४. प्रश्न—(१) यह जगत किससे ढका हुआ है ?
(२) किसके कारण यह प्रकाशित नहीं होता ?
(३) इसका अभिलेपन क्या है ?
(४) क्या जन्मादि दुःख महाभय है ?

उत्तर—(१) यह जगत अविद्या से ढका हुआ है।

(२) मात्सर्य और प्रमाद के कारण यह प्रकाशित नहीं होता है।

(३) वासना इसका अभिलेपन है।

(४) जन्मादि दुःख महाभय है।

५. प्रश्न—(१) चारों ओर जो ये प्रवाह बह रहे हैं, इनका निवारक क्या है?

(२) प्रवाहों का नियम क्या है?

(३) ये प्रवाह किस वस्तु से रोके जा सकते हैं?

उत्तर—(१) जगत में जो ये प्रवाह बह रहे हैं, उनकी निवारक स्मृति है।

(२) स्मृति ही उन प्रवाहों की नियामक है।

(३) प्रज्ञा से वे रोके जा सकते हैं?

६. प्रश्न—'प्रज्ञा' और 'स्मृति' इन नाम-रूपों का विरोध कहां होता है?

उत्तर—नाम और रूप का पूर्णतः निरोध विज्ञान के निरोध से होता है।

७. प्रश्न—संसार की ओर मनुष्य किस प्रकार देखे कि जिससे मृत्यु-राज उसकी ओर न देख सके?

उत्तर—सदैव स्मृति रखते हुए इस तरह देखे कि जगत शून्य है। इस भांति आत्म-दृष्टि को त्याग देनेवाला मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। इस प्रकार संसार की ओर देखनेवाले मनुष्य की ओर मृत्युराज नहीं देखता।

८. प्रश्न—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णारहित है और संशयों को पार कर गया है, उसका मोक्ष किस प्रकार का होता है?

उत्तर—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णा से रहित है और संशयों से पार हो गया है, उसके लिए मोक्ष-जैसा कोई पदार्थ रहा ही नहीं। (वही उसका मोक्ष है।)

९. प्रश्न—(१) वह वासना-रहित होता है, या उसकी कोई वासना

शेष रहती है ?

(२) वह प्रज्ञावान होता है, या प्रज्ञा की कल्पना करने वाला ?

उत्तर—(१) वह वासना-रहित होता है, उसकीकोई वासना शेष नहीं रहती।

(२) वह प्रज्ञावान होता है, प्रज्ञा की कल्पना करने-वाला नहीं। वह मुनि सर्वथा काम-भाव में अना-सक्त और अकिंचन होता है।

१०. प्रश्न—महान भयानक बाढ़ के बीचोंबीच संसार के मध्यभाग में खड़े हुए जरा-मृत्युपरायण मनुष्य के लिए कौन-सा द्वीप शरण-स्थान, है ?

उत्तर—आकिंचन्य और अनादान (ग्रहण न करना) ही उसके लिए महान विशाल द्वीप है, जिसे मैं जरा और मृत्यु का क्षय करनेवाला निर्वाण' कहता हूं।

यह जानकर जो स्मृतिमान लोग इसी जन्म में परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, वे मार के (विषय के) वश नहीं होते, वे मार का अनुसरण नहीं करते।

११. प्रश्न—इस जगत में लोग अनेकों को मुनि कहते हैं, पर क्या उनका यह कहना ठीक है ? वे ज्ञान-संपन्न पुरुषों को मुनि कहते हैं या केवल व्रतादि उपजीविका-सम्पन्न को ?

उत्तर—दृष्टि से, श्रुति से अथवा ज्ञान से कोई मुनि नहीं होता, ऐसा पंडितजन कहते हैं। मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो निर्दुःख और निस्तृष्ण होकर रहता है, उसे ही मैं मुनि कहता हूं।

१२. प्रश्न—(१) इस जगत में किसे संतुष्ट कहना चाहिए ?

(२) तृष्णाएं क़िसे नहीं हैं ?

(३) कौन दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थिर हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता ?

(४) महापुरुष किसे कहते हैं ?

(५) इस जगत में कौन तृष्णा को पार करता है ?

उत्तर—(१) जो कामोपभोगों का परित्याग करके ब्रह्मचारी, वीततृष्ण और सदैव स्मृतिमान रहता है, उसे ही संतुष्ट कहना चाहिए।

(२) उसे ही तृष्णाएं नहीं सतातीं।

(३) वह दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थित हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता।

(४) उसे ही मैं महापुरुष कहता हूं।

(५) इस जगत में वही महापुरुष तृष्णा-तरंगिणी को पार कर सकता है।

१३. प्रश्न—इस जगत में जो ये अनेक तरह के दुःख दिखाई देते हैं, वे कहां से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—ये दुःख उपाधियों से उत्पन्न होते हैं। जो अविद्वान, मंदबुद्धि मनुष्य उपाधियां करते हैं, वे बार-बार दुःख भोगते हैं। अतएव दुःख का उत्पत्ति-कारण जाननेवाले बुद्धिमान मनुष्य को उपाधि नहीं करनी चाहिए।

१४. प्रश्न—बुद्धिमान मनुष्य किस तरह ओघ (भवसागर), जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख को पार करते हैं ?

उत्तर—ऊपर, नीचे, चारों ओर और मध्य में जो कुछ भी दिखाई देता है, उसमें से तृष्णा, दृष्टि और विज्ञान (चित्तधारा) को हटा देनेवाला पुरुष संसार पर आश्रय नहीं रखता।

इस प्रकार चलनेवाला स्मृतिमान, अप्रमत्त और विद्वान भिक्षु ममत्व को छोड़कर इसी लोक में जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख का त्याग कर देता है।

जो ब्राह्मण वेदपारग, अकिंचन और काम-भव में अनासक्त होगा, वह इस संसार-सागर को विश्वासपूर्वक पार कर सकेगा।

इस जगत में वही विद्वान और वेदपारग मनुष्य है, वही भव और अभव में आसक्ति का त्याग कर सकता है, वही निस्तृष्ण, निर्दुःख और वासना-रहित है और वही जन्म, जरा और मृत्यु को पार कर सकता है।

१५. प्रश्न—किस हेतु से प्रेरित हो ऋषि, क्षत्रिय, ब्राह्मण और अन्य मनुष्य इस जगत में देवताओं को उद्देश्य करके भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं ?

उत्तर—ये सब इसलिए भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं कि उनका पुनर्जन्म हो और बार-बार जन्म और मरण के ग्रास बनें।

१६. प्रश्न—यज्ञ-कर्म में अप्रमादी रहकर क्या ये लोग जन्म और जरा को पार कर सकते हैं ?

उत्तर—ये लोग देवताओं की प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, आशा प्रकट करते हैं, हवन करते हैं और अपने लाभ के लिए कामसुख की याचना करते हैं। यज्ञ में फंसे हुए ये भवलोभासक्त मनुष्य जन्म और जरा को कदापि पार नहीं कर सकते।

१७. प्रश्न—तो फिर देवलोक और नरलोक में कौन मनुष्य जन्म और जरा को पार कर सकता है ?

उत्तर—संसार की छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं को प्रज्ञा से जानकर जिस मनुष्य ने अपनी तमाम तृष्णाएं नष्ट कर दी हैं, जो शांत, वीतधूम, रागादि-विरत और आशा-रहित है, वही जन्म और जरा को पार कर सकता है।

१८. प्रश्न—राग और दोष कहां उत्पन्न होते हैं ? अरति, रति और हर्ष कहां पैदा होते हैं ?

मन में वितर्क कहां से होता है, जिससे यह मन उस पतंग के समान मंडराता रहता है, जिसे बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं ?

उत्तर—यही आत्मा राग और दोष का निदान है। इसी से अरति, रति और हर्ष उत्पन्न होते हैं। इसी से मन में वितर्क उत्पन्न होता है। यह उस पतंग के अनुसार है, जिसे अबोध बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं। ये रागादि स्नेह से आत्माम न्यग्रोध (बरगद) स्कंध के समान उत्पन्न होते हैं और कामों में 'मालू' नामक लता की भांति लपटते हैं।

जो इनका निदान जानते हैं, वे आनंद-लाभ करते हैं, और इस संसार-समुद्र को, जो अत्यंत दुस्तर है, पार करके निर्वाण प्राप्त कर

लेते हैं, और उनका पुनर्जन्म नहीं होता ।

१९. प्रश्न—(१) श्रेष्ठ धन कौन-सा है ?
(२) सुचिर सुख देनेवाला कौन ?
(३) जगत में अत्यंत स्वादिष्ट पदार्थ कौन है ?
(४) किस प्रकार का जीवन व्यतीत करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष है ?

उत्तर—(१) श्रद्धा ही श्रेष्ठ धन है ।
(२) धर्म ही सुचिर सुख देनेवाला है ।
(३) सत्य ही संसार में स्वादिष्ट पदार्थ है ।
(४) प्रज्ञा से जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष ही संसार में श्रेष्ठ है ।

२०. प्रश्न—(१) ओघ को कैसे पार कर सकते हैं ?
(२) मृत्यु-महोदधि के उस पार किसके सहारे जा सकते हैं ?
(३) दुःख का अंत किससे कर सकते हैं ?
(४) परिशुद्धि किससे होती है ?

उत्तर—(१) श्रद्धा से ओघ को पार कर सकते हैं ।
(२) अप्रमाद के सहारे मृत्यु-महोदधि के उस पार जा सकते हैं ।
(३) वीर्य (उद्योग) से दुःख का अंत हो सकता है ।
(४) और, प्रज्ञा से परिशुद्धि प्राप्त हो सकती है ।

२१. प्रश्न—(१) प्रज्ञा किससे प्राप्त होती है ?
(२) धन किससे मिलता है ?
(३) कीर्ति किससे प्राप्त होती है ?
(४) किस प्रकार इस लोक से परलोक पहुंचकर मनुष्य शोक नहीं करता ?

उत्तर—(१) श्रद्धावान प्रमाद-विरहित कुशल पुरुष निर्वाण की प्राप्ति के लिए आर्हत धर्म की परिसेवा से (उपासना) प्रज्ञा प्राप्त करता है ।

(२) प्रत्युपकारी सहनशील पुरुष अप्रमाद के द्वारा विपुल धन प्राप्त करता है।

(३) सत्य से वह कीर्ति-लाभ करता है।

(४) जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग, ये चार धर्म होते हैं, वही इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

२२. प्रश्न—(१) किन गुणों के प्राप्त करने से मनुष्य भिक्षु होता है ?

(२) भिक्षु सुशांत कैसे होता है ?

(३) दांत किसे कहते हैं ?

(४) बुद्ध के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—(१) जो बुद्ध के सुझाये हुए मार्ग से परिनिर्वाण प्राप्त करता है, जिसे कोई शंका नहीं रहती, जो शाश्वत दृष्टि और उच्छेद-दृष्टि का त्याग करके कृतकृत्य हो जाता है और पुनर्जन्म का क्षय कर देता है, वही भिक्षु है।

(२) जो हर जगह उपेक्षायुक्त और स्मृतिमान होकर इस अखिल जगत में किसी की भी हिंसा नहीं करता, जो उत्तीर्ण और विमुक्त हो गया है और जिसमें न राग रहा है, न द्वेष, वही सुशांत है।

(३) इस अखिल जगत में जिसकी इंद्रियां बाहर से तथा भीतर से वश में हो गई हैं और जो भावितात्मा पुरुष उत्तम लोकों को जानकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है, वही दांत है।

(४) समस्त विकल्प, संसार तथा जन्म-मरण को जानकर और विगतरज, निष्पाप एवं विशुद्ध होकर जो जन्मक्षय का लाभ करता है, उसे बुद्ध कहते हैं।

२३. प्रश्न—(१) मनुष्य किन गुणों की प्राप्ति से ब्राह्मण होता है ?

(२) मनुष्य श्रमण कैसे होता है ?

(३) स्नातक के क्या लक्षण हैं ?

(४) नाग किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित और स्थिरात्मा होकर संसार-सागर को लांघ जाता है, जो 'केवली' और अनाश्रित होता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

(२) पुण्यों और पापों को त्यागकर जो पुरुष शांत हो गया है, इहलोग और परलोक दोनों को जानकर जो विगतरज हो गया है और जो जन्म तथा मरण के उस पार चला गया है, उसे श्रमण कहते हैं।

(३) जो समस्त जगत में बाहर और भीतर से समस्त पापों को पखारकर विकल्पबद्ध देवताओं और मनुष्यों के बीच विकल्प प्राप्त नहीं होता, उसे स्नातक कहते हैं।

(४) जो इस जगत में एक भी पाप नहीं करता और सभी संयोगों और बंधनों को तोड़कर कहीं भी बद्ध नहीं होता, उस पुरुष को इन गुणों के कारण नाग कहते हैं।

२४. प्रश्न—(१) क्षेत्रिजन किसे कहते हैं ?

(२) मनुष्य कुशल कैसे होता है ?

(३) पंडित के क्या लक्षण हैं ?

(४) मुनि किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) दिव्य, मानवी और ब्रह्मक्षेत्र—इन तीनों क्षेत्रों को जानकर जो तीनों के बंधन से मुक्त हो

गया है, उसे क्षेत्रिजन कहते हैं ।

(२) दिव्य, मानवी और ब्रह्मकोश—इन तीनों कोशों को जानकर जो तीनों के बंधन से मुक्त हो गया है, उसे कुशल कहते हैं ।

(३) आध्यात्मिक (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) और बाह्य आयतनों को (रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) जानकर जो विशुद्धप्रज्ञ मनुष्य पाप और पुण्य के उस पार चला गया है, उसे पंडित कहते हैं ।

(४) अखिल लोक में अध्यात्मविषयक और बाह्य-विषयक तथा साधुओं और असाधुओं का धर्म जानकर जो आसक्ति के उस पार चला गया है, उसे मुनि कहते हैं । उसकी पूजा मनुष्य क्या, देवता भी करते हैं ।

२५. प्रश्न—(१) किन गुणों की प्राप्ति से मनुष्य वेदपारग कहलाता है ?

(२) मनुष्य अनुविदित कैसे होता है ?

(३) वीर्यवान के क्या लक्षण हैं ?

(४) मनुष्य आजन्य कैसे होता है ?

उत्तर—(१) श्रमण और ब्राह्मणों के जितने वेद हैं, उन सबको जानकर और उन्हें पार करके जो समस्त वेदनाओं के विषय में वीतराग हो जाता है, वह वेदपारग है ।

(२) भीतर और बाहर से रोगों का मूल यह संसार नामरूप है, अतः सर्व रोगों के मूल बंधन से जो मुक्त हो जाता है, उसे अनुविदित कहते हैं ।

(३) जो इस लोक में समस्त पापों में विरत हो गया और जिसने निरय-दु.ख को पार कर लिया है, वह वीर्यवान है । इन गुणों के कारण ही उसे

वीर्यवान, प्रधानवान (प्रयत्नवान) और धीर कहते हैं।

(४) भीतर और बाहर के समस्त संगकारण को तोड़-कर जो सभी प्रकार की आसक्ति के बंधन से मुक्त हो गया है, उसे; इन गुणों के कारण; आजन्य कहते हैं।

२६. प्रश्न—(१) किन गुणों को प्राप्त करके मनुष्य श्रोत्रिय होता है?

(२) मनुष्य आर्य किन गुणों से होता है?

(३) मनुष्य आचरणवान कैसे होता है?

(४) परिव्राजक किसे कहते हैं?

उत्तर—(१) जितने भी निंदित और अनिंदित धर्म हैं, उन सबको सुनकर और जानकर जो मनुष्य उन पर विजय प्राप्त करके निःशंक, विमुक्त और सर्वथा निर्दुःख हो जाता है, उसे श्रोत्रिय कहते हैं।

(२) जो विद्वान मनुष्य आस्रवों और आलयों का उच्छेद करके गर्भवास की जड़ काट डालता है, और जो त्रिविध (काम, रूप और अरूप) पंकमय संज्ञा को लांघकर विकल्प को प्राप्त नहीं होता; वह आर्य है।

(३) जिसने आचरण में पूर्णत्व कर लिया है, जिसे कुशल धर्मों का पूर्णज्ञान है, और जो कहीं भी वद्ध नहीं होता, जो विमुक्त है और जिसमें प्रत्याघात-वुद्धि का सर्वथा अभाव है, वह आच-रणवान है।

(४) ऊपर, नीचे और चारों ओर अथवा मध्य में जितने भी दुःखकारक कर्म हैं, उन्हें त्यागकर जो विचारपूर्वक बर्तता है, जिसने माया, मान; क्रोध और नामरूप को नष्ट कर दिया है, उस

पूर्णत्वप्राप्त पुरुष को परिव्राजक कहते हैं।

२७. प्रश्न—कलह और विवाद तथा परिदेय, शोक और मत्सर कहां से उत्पन्न होते हैं? और अहंकार, अतिमान तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान क्या है?

उत्तर—कलह और विवाद तथा परिदेव, शोक और मत्सर एवं अहंकार, अतिमान तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान प्रिय वस्तुएं हैं।

२८. प्रश्न—(१) इस जगत में वस्तुएं प्रिय कैसे होती हैं?
(२) यह लोभ किससे पैदा होता है?
(३) लोगों के लड़ाई-झगड़ों की जड़ यह आशा और निष्ठा किससे उत्पन्न होती है?

उत्तर—(१) इस जगत में राग (छंद) के कारण वस्तुएं प्रिय होती हैं।
(२) राग के कारण लोभ पैदा होता है।
(३) यह राग ही समस्त लड़ाई-झगड़ों की जड़, आशा और निष्ठा का जनक है।

२९. प्रश्न—(१) जगत में राग कहां से उत्पन्न होता है?
(२) योजनाएं कहां से उत्पन्न होती हैं?
(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष कहां से पैदा होते हैं?

उत्तर—(१) जगत में जिन्हें सुख और दुःख कहते हैं, उन्हीं से राग पैदा होता है।
(२) रूपों में हानि और लाभ देखकर जगत में मनुष्य योजनाएं बनाया करता है।
(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष भी सुख-दुःख के ही कारण उत्पन्न होते हैं।

३०. प्रश्न—(१) सुख और दुःख होने का क्या कारण है?
(२) किन वस्तुओं के नष्ट हो जाने से सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते?
(३) लाभ और हानि का उत्पत्ति-स्थान क्या है?

उत्तर—(१) सुख और दुःख का कारण स्पर्श है। स्पर्श से ही ये सुख-दुःख पैदा होते हैं।
(२) स्पर्श न हो तो ये भी पैदा न हों।
(३) लाभ और हानि का भी उत्पत्ति-स्थान यह स्पर्श ही है।

३१. प्रश्न—(१) जगत में स्पर्श कहां से पैदा होता है?
(२) परिग्रह किससे उत्पन्न होता है?
(३) और, किसके नाश से यह स्पर्श उत्पन्न नहीं होता?

उत्तर—(१) नाम और रूप के आश्रय से स्पर्श होता है।
(२) इच्छा के कारण परिग्रह उत्पन्न होता है। यदि इच्छा नष्ट हो जाय, तो फिर ममत्व न रहे।
(३) रूप-विचार नष्ट हो जाने से स्पर्श उत्पन्न नहीं होता है?

३२. प्रश्न—(१) रूप-विचार किन गुणों के युक्त होने से नष्ट होता है।
(२) सुख और दुःख का नाशक क्या है?
(३) इनका कैसे नाश होता है?

उत्तर—इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है। जो संज्ञा[1] का विचार नहीं करता, अथवा असंज्ञा का भी विचार नहीं करता, जो असंज्ञी भी नहीं और रूपसंज्ञी भी नहीं; उसका रूप-विचार नष्ट हो जाता है। कारण यह है कि प्रपंच की कल्पना इस संज्ञा से ही पैदा होती है।

३३. प्रश्न—(१) मुनि के क्या लक्षण हैं?
(२) केवली किसे कहते हैं?

---

१. इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के वाद, यह अमुक विषय है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे संज्ञा कहते हैं।

(३) मनुष्य बुद्ध कैसे होता है ?

उत्तर—(१) जो पूर्वजन्मों को तथा स्वर्ग और नरक को जानता है, जिसका जन्मक्षय हो गया है और जो अभिज्ञा-तत्पर है, वही मुनि है।

(२) रोग से जो सर्वथा मुक्त है, जो चित्त की विशुद्धि को जानता है, जिसका जन्म-मरण नष्ट और ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है, उसे केवली कहते हैं।

(३) जिसने समस्त धर्मों को पार कर लिया है, उसे बुद्ध कहते हैं।

---

१. अं. नि. (३: ३: ६); २—१७. सु. नि. (पारायण वग्ग); १८—१९. बुद्धदेव (ना. प्र. का.) २०—२१. सु. नि. २२—२६. सु. नि. (समिय सुत्त); २७—३२. सु. नि. (कलहविवाद सुत्त); ३३ म. नि. ब्राह्मण सुत्तंत)

: ३० :

अंतिम उपदेश

१. भिक्षुओ ! जहांतक तुम लोग बराबर एकत्र होकर संघ का कार्य करते रहोगे, जबतक तुममें ऐक्य रहेगा, ऐक्य से तुम संघ के सब कृत्य करते रहोगे, जहांतक संघ के किसी नियम को भंग नहीं करोगे, जहांतक तुम अपने संघ के वृद्ध भिक्षुओं को मान देते रहोगे, जहांतक तुम अपनी तृष्णा की अधीनता स्वीकार न करोगे, जहां तक तुम एकांतवास में आनंद मानोगे, और जबतक तुम इस बात की चिंता रखोगे कि तुम्हारे सब साथी सुखी रहें, तबतक तुम्हारी उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी, अवनति नहीं।

२. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के ये सात नियम मैं बता देता हूं, इन्हें ध्यानपूर्वक सुनो :

(१) गृहसंबंधी निजी काम में आनंद न मानना;
(२) व्यर्थ की बकवाद करने में आनंद न मानना,
(३) निद्रा में समय बिताने में आनंद न मानना;
(४) भीड़-भाड़ पसंद करनेवाले भिक्षुओं के साथ समय बिताने में आनंद न मानना;
(५) दुर्वासनाओं के वश न होना;
(६) दुष्टों की संगति में न पड़ना;
(७) समाधि में अल्प सफलता पाकर उसे बीच में ही न छोड़ देना।

३. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के और भी सात नियम कहता हूं, उन्हें सुनो :

(१) श्रद्धालु बने रहना;
(२) पाप-कर्म से लजाते रहना;
(३) लोकापवाद का भय रखना;
(४) विद्या का संचय करना;
(५) सत्कर्म करने में उत्साह रखना;
(६) स्मृति को जाग्रत बनाये रखना;
(७) प्रज्ञावान रहना।

४. शीलभ्रष्ट मनुष्य की पांच प्रकार से हानि होती है :

(१) दुराचरण से उसकी संपत्ति का नाश होता है;
(२) उसकी अपकीर्ति फैलती है;
(३) किसी भी सभा में उसका प्रभाव नहीं पड़ता;
(४) शांति से वह मृत्यु नहीं पाता;
(५) मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होता है।

५. सदाचारी मनुष्य को, उसके सदाचार के कारण, यह पांच प्रकार का लाभ होता है :

(१) सदाचरण से उसकी संपत्ति की वृद्धि होती है;
(२) लोक में उसकी कीर्ति बढ़ती है;
(३) हरेक सभा में उसका प्रभाव पड़ता है;
(४) शांति से वह मृत्यु पाता है;
(५) मरने के बाद वह सुगति को प्राप्त होता है।

६. अब तुम लोग अपने को ही अपना अवलंबन बनाओ। इस संसार-समुद्र में अपने को ही द्वीप बनाओ, धर्म को अपना द्वीप बनाओ। अपनी ही शरण जाओ और धर्म की शरण में जाओ।

जो पुरुष मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा, इन चार स्मृत्युपस्थानों की भावना करता है, वह अपने लिए द्वीप बना लेता है, यही धर्म शरण है।

७. भिक्षुओ! तुम्हारा ब्रह्मचर्य चिरस्थायी रहे, और तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो कि तुम्हारे इस ब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत-से लोगों का कल्याण हो, बहुत-से लोगों को सुख मिले, तो मेरे सिखाये हुए 'कुशल धर्म'

का सम्यक् रीति से अध्ययन और उसकी शुद्ध भावना करो।

८. जो मनुष्य मेरे उपदेश के अनुसार सावधानी के साथ धर्म का आचरण करेगा, पुनर्जन्म से छुटकारा पा जायगा, उसका दुःख नष्ट हो जायगा।

९. मेरे परिनिर्वाण-पश्चात मेरे शरीर की पूजा करने की माथा-पच्ची में न पड़ना। मैंने तुम्हें जो सन्मार्ग बताया है; उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना।

१०. तुम्हारे मन में विचार आ सकता है कि बुद्ध के देहावसान के बाद हमारा कोई शास्ता (शासनकर्ता) नहीं रहा; पर मेरे न रहने के बाद मैंने तुम्हें जिस धर्म और विनय की शिक्षा दी है वही तुम्हारा शास्ता होगा।

११. मैं तुमसे कहता हूँ कि संस्कार अर्थात कृतवस्तु नाशवान है, अतः सावधानी के साथ जीवन के लक्ष्य का संपादन करो।

१—११. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

: ३१ :

सूक्ति-कण

१. दूसरों की त्रुटियों या कृत्य और अकृत्यों की खोज में न रहो। तुम तो अपनी ही त्रुटियों और कृत्य-अकृत्यों पर विचार करो।

२. उस काम का करना अच्छा नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसका फल रोते-बिलखते भोगना पड़े।

३. उसी काम का करना ठीक है, जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसका फल मनुष्य प्रसन्न-चित्त से ग्रहण करे।

४. पाप-कर्म दूध की तरह तुरंत नहीं जम जाता है; वह तो भस्म से ढकी हुई आग की तरह थोड़ा-थोड़ा जलकर मूढ़ मनुष्य का पीछा करता है।

५. जैसे महान पर्वत हवा के झकोरों से विकंपित नहीं होता, वैसे ही बुद्धिमान लोग निंदा और स्तुति से विचलित नहीं होते।

६. वही पुरुष शीलवान और धार्मिक है, जो न अपने लिए और न दूसरे के लिए पुत्र, धन आदि की इच्छा करता है, और जो अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता।

७. सहस्रों अनर्थक वाक्यों से एक सार्थक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति प्राप्त होती है।

सहस्रों अनर्थक गाथाओं से वह एक सार्थक गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुन-कर शांति प्राप्त होती है।

८. जो अभिवादनशील और सदा वृद्धों की सेवा करनेवाले हैं, उनके ये चारों धर्म बढ़ते हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल।

९. एक दिन का सदाचारयुक्त और ज्ञानपूर्वक जीना सौ वर्ष के शीलरहित और असमाहित जीवन से अच्छा है।

१०. यह समझकर पापी की अवहेलना न करे कि 'वह मेरे पास नहीं आयेगा'। एक-एक बूंद पानी से घड़ा भर जाता है। इसी तरह मूर्ख मनुष्य अगर थोड़ा-थोड़ा भी पाप संचय करता है तो वह एक दिन पाप-समुद्र में डूब जाता है।

११. जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष पुरुष को दोष लगाता है, उस मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है, जैसे वायु के रुख फेंकी हुई धूल अपने ऊपर सहज ही पड़ती है।

१२. मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी है; दूसरा कौन उसका स्वामी या सहायक हो सकता है? अपने को जिसने भली-भांति दमन कर लिया, वह ही एक दुर्लभ स्वामित्व प्राप्त कर लेता है।

१३. अनुचित और अहितकर कर्मों का करना आसान है। हितकर और शुभ कर्म परम दुष्कर हैं।

१४. जो पहले प्रमाद में था, और अब प्रमाद से निकल गया वह इस लोक को मेघ-माला से उन्मुक्त चंद्रमा की भांति प्रकाशित करता है।

१५. जो अपने किये हुए पापों को पुण्य से ढक देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे बादलों से उन्मुक्त चंद्रमा।

१६. जिसने एक इस धर्म को छोड़ दिया है, जो झूठ बोलता है, और जो परलोक का ख्याल नहीं करता, उसके लिए कोई भी पाप अकरणीय नहीं।

१७. श्रेष्ठ पुरुष का पाना कठिन है। वह हर जगह जन्म नहीं लेता। धन्य है वह सुख-संपन्न कुल, जहां ऐसा धीर पुरुष उत्पन्न होता है।

१८. विजय से वैर पैदा होता है; पराजित पुरुष दुःखी होता है। जो जय और पराजय को छोड़ देता है, वही सुख की नींद सोता है।

१९. राग के समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई पाप नहीं। पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के समान कोई दुःख नहीं, और शांति के समान कोई सुख नहीं।

२०. भूख सबसे बड़ा रोग है; शरीर सबसे बड़ा दुःख है—इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यथार्थ में निर्वाण ही परम-सुख है।

२१. आरोग्य परमलाभ है। संतोष परमधन है। विश्वास परम-बंधु है। और निर्वाण परमसुख है।

२२. सत्पुरुषों का दर्शन अच्छा है। संतों के साथ रहना सदा सुख-कारक है। मूर्खों के अदर्शन से (अलग रहने से) मनुष्य सचमुच सुखी रहता है।

२३. मूर्खों की संगति में रहनेवाला मनुष्य चिरकाल तक शोक-निमग्न रहता है। मूर्खों की संगति शत्रुओं की तरह सदा ही दुःखदायक होती है, और धीर पुरुषों का सहवास अपने बंधु-बांधवों के समागम के समान सुखदाई होता है।

२४. सदा सच बोलना, क्रोध न करना और याचक को यथेच्छ

दान देना—इन तीनों बातों से मनुष्य देवताओं के निकट स्थान पाता है।

२५. यह पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं कि, नहीं बोलता उसकी भी लोग निंदा करते हैं, और जो बहुत बोलता है, उसे भी दोष लगाते हैं। इसी तरह मितभाषी की भी लोग निंदा करते हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं, जिसकी लोग निंदा न करें। बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न कभी हुआ, न कभी होगा और न आजकल है।

२६. काया को उद्विग्न होने से बचा; काया पर दमन कर; काया के दुश्चरित को छोड़; वाणी के सुचरित का आचरण कर।

२७. वाणी को उद्विग्न होने से बचा; वाणी को संयत रख; वाणी के दुश्चरित को छोड़; वाणी के सुचरित का आचरण कर।

२८. मन को उद्विग्न होने से बचा; मन को वश में कर; मन के सुचरित का आचरण कर।

२९. राग समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई अरिष्ट ग्रह नहीं; मोह के समान कोई जाल नहीं; और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं।

३०. जैसे सुनार चांदी के मैल को दूर करता है, उसी तरह बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह अपने मलों (पापों) को प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा दूर करता रहे।

३१. यह लोहे का मुरचा ही है जो लोहे को खा जाता है। इसी प्रकार पापी के पाप-कर्म ही उसे दुर्गति को पहुंचाते हैं।

३२. उपासना का मुरचा अनभ्यास है। मकान का मुरचा उसकी बेमरम्मती है। शरीर का मुरचा आलस्य है, और संरक्षक का मुरचा प्रमाद है।

३३. जो प्राणियों की हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है; जो संसार में न दी हुई चीज को उठा लेता है अर्थात चोरी करता है; जो पराई स्त्री के साथ सहवास करता है, जो शराब पीता है, वह मनुष्य लोक में अपनी जड़ आपही खोदता है।

३४. दूसरे का दोष देखना आसान है; किंतु अपना दोष देखना कठिन है। लोग दूसरे के दोषों को भुस के समान फटकते फिरते हैं; किंतु अपने दोषों को इस तरह छिपाते हैं, जैसे चतुर जुआरी हारनेवाले पासे को छिपा लेता है।

३५. जो दूसरों के दोषों को ही सदा देखा करता है और हमेशा हाय-हाय किया करता है, उसकी वासनाएं बढ़ती ही जाती हैं, और वह उनका नाश नहीं कर सकता।

३६. बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं होता। जो क्षमाशील, वैर-रहित और अभय होता है, वही पंडित कहा जाता है।

३७. वह धर्मधर नहीं जो बहुत बोलता है। वही धर्मधर है और वही धर्म-विषयों में अप्रमादी है, जिसने चाहे थोड़ा ही धर्म सुना हो, पर जो धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है।

३८. यदि किसी के सिर के बाल पक जायं, तो इससे वह स्थविर या बड़ा नहीं हो जाता। उसकी उम्र भले ही पक गई हो, किंतु वह व्यर्थ ही वृद्ध कहा जाता है।

३९. बड़ा असल में वही है, जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, जो मल से रहित और धीर है।

४०. जो पुरुष ईर्ष्यालु, मात्सर्ययुक्त और शठ है, वह बहुत बोलने या सुंदर रंग-रूप के कारण साधु नहीं हो सकता।

४१. साधु वही है, जिसके दोष जड़मूल से नष्ट हो गये हैं। जो विगत-दोष और मेधावी है, वही साधु है।

४२. अनियमित और मिथ्याभाषी मनुष्य मूंछ मुंड़ाने मात्र से ही भिक्षु नहीं हो जाता। क्या ऐसा मनुष्य भिक्षु हो सकता है, जो वासना और लोभ से युक्त हो ?

४३. वही असल में भिक्षु है, जिसने छोटे-बड़े सब पाप त्याग दिये हैं। जिसके पाप शमित हो गये हैं, वही श्रमण कहा जाता है।

४४. भिक्षा मांगनेमात्र से कोई भिक्षु नहीं होता। भिक्षु वही होता है, जो धर्मानुकूल आचरण करता है।

४५. जो पाप और पुण्य से ऊंचा उठकर ब्रह्मचारी बन गया है, जो लोक में धर्म के साथ विचरता है, उसी को भिक्षु कहना चाहिए।

४६. अज्ञानी और मूढ़ मनुष्य केवल मौन से मुनि नहीं हो जाता। वही मनुष्य मुनि है, जो तराजू की तरह ठीक-ठीक जांच करके सुव्रतों का ग्रहण और पापों का त्याग करता है। जो दोनों लोकों का मनन करता है वही सच्चा मुनि है।

४७. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह आर्य नहीं। समस्त प्राणियों के साथ जो अहिंसा का बर्ताव करता है वही आर्य है।

४८. यदि थोड़ा सुख छोड़ देने से विपुल सुख मिलता हो तो बुद्धिमान पुरुष विपुल सुख का ख्याल करके उस थोड़े-से सुख को छोड़ दे।

४९. दूसरे को दुःख देकर जो अपना सुख चाहता है, वह बैर के जाल में फंसकर उससे छूट नहीं सकता।

५०. ऐसे ही उन्मत्त और प्रमत्त लोगों के आस्रव (चित्त के मल) बढ़ते हैं, जो कर्त्तव्य को छोड़ देते हैं और अकर्त्तव्य को करते हैं।

५१. जो शरीर की अनित्य गति को विचारते हैं, जो अकर्त्तव्य से दूर रहते और कर्त्तव्य कृत्य को करते हैं, उन ज्ञानी सत्पुरुषों के आस्रव अस्त हो जाते हैं।

५२. श्रद्धावान, शीलवान, यशस्वी और धनी पुरुष जिस देश में जाता है, वहां वह पूजा जाता है।

५३. हिमालय के धवल शिखरों के समान संतजन दूर से ही प्रकाशते हैं। और, असंत लोग इस तरह अदृष्ट रहते हैं, जैसे रात में छोड़ा हुआ बाण।

५४. काषाय वस्त्र पहननेवाले बहुत-से पापी और असंयमी मिलेंगे। ये सब अपने पाप-कर्म के द्वारा नरकलोक को जायेंगे।

५५. असंयमी और दुराचारी मनुष्य राष्ट्र का अन्न व्यर्थ खाये इससे तो आग में गरम किया हुआ लोहे का लाल गोला खा जाय वह अच्छा।

५६. परस्त्री-गमन करने से अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यंत रति, यही मिलता है। इसलिए मनुष्य को परस्त्री-गमन नहीं करना चाहिए।

५७. जैसे असावधानी से पकड़ा हुआ कुश हाथ को काट देता है, उसी तरह असावधानी के साथ संन्यास ग्रहण करने से मनुष्य को नरक की प्राप्ति होती है।

५८. दुष्कृत (पाप) का न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि दुष्कृत करनेवाले को पीछे पछताना पड़ता है। सुकृत का करना ही श्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य को अनुताप न करना पड़े।

५९. मुनि को गांव में इस प्रकार विचरना चाहिए, जिस प्रकार भौंरा फूल के रंग और सुगंध को न बिगाड़ता हुआ उसके रस को लेकर चल देता है।

६०. कोई भी सुगंध, चाहे वह चंदन की हो, चाहे तगर की या चमेली की, वायु से उलटी ओर नहीं जाती। किंतु सत्पुरुषों की सुगंध वायु से उलटी ओर भी जाती है। सत्पुरुषों की सुगंध सभी दिशाओं

को सुवासित करती है ।

६१. चंदन या तगर, कमल या जूही इन सबकी सुगंध से सदाचार की सुगंध श्रेष्ठ है ।

६२. तगर और चंदन की जो गंध है वह अल्पमात्र है, और जो सदाचारियों की उत्तम गंध है, वह देवताओं तक पहुंचती है ।

६३. चाहे कितनी ही धर्मसंहिताओं का पाठ करे, किंतु प्रमादी मनुष्य उन संहिताओं के अनुसार आचरण करनेवाला नहीं होता; अतः वह श्रमण अर्थात् साधु नहीं हो सकता । वह तो उस ग्वाले के समान है जो दूसरों की गायों को गिनता रहता है ।

६४. जो पुरुष राग-द्वेषादि कषायों (मलों) को विना छोड़े ही काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण कर लेता है, और जिसमें न संयम है, न सत्य, वह काषाय वस्त्र धारण करने का अधिकारी नहीं ।

६५. जिसने कषायों (मलों) को त्याग कर दिया है, जो सदाचारी, संयमी और सत्यवान है, वही काषाय वस्त्र धारण कर सकता है ।

६६. जिस प्रकार कलछी दाल-तरकारी के स्वाद को नहीं समझ सकती, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य सारी जिंदगी पंडितों की सेवा में रहकर भी धर्म और ज्ञान का रस प्राप्त नहीं कर सकता ।

६७. जिस प्रकार जीभ दाल-तरकारी को चखते ही स्वाद पहचान लेती है, उसी प्रकार विज्ञ पुरुष पंडितों की सेवा में मुहूर्तमात्र रहकर भी धर्म और ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ।

६८. जबतक पाप का परिपाक नहीं होता, तभी तक मूर्ख मनुष्य को वह मधु-सा मीठा लगता है । किंतु जब पाप-कर्म के फल लगते हैं, तब उस मूर्ख को भारी क्लेश होता है ।

६९. जिनके पास कोई मालमत्ता नहीं, जो संचय करना नहीं जानते, जिनका भोजन नियत है, जिन्हें जगत् शून्यता-स्वरूप दिखाई

देता है, और जिन्होंने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है, उनकी गति उसी प्रकार मालूम नहीं हो सकती, जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति।

७०. सौ वर्ष के आलसी और हीनवीर्य जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।

७१. न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों की खोह में कोई ऐसा ठौर है, जहां पापी प्राणी अपने किये हुए पाप-कर्मों से त्रास पा सके।

७२. बुढ़ापे तक सदाचार का पालन करना सुखकर है। स्थिर श्रद्धा सुखकर है। प्रज्ञा का लाभ सुखकर है। और पाप-कर्मों का न करना सुखकर है।

७३. जिसने हाथ, पैर और वाणी को संयम में रखा है, वही सर्वोत्तम संयमी है। मैं उसी को भिक्षु कहता हूँ, जो अपने में मस्त है, जो संयत है, एकांतसेवी है और संतुष्ट है।

७४. जिस भिक्षु की वाणी अपने वश में है, और जो थोड़ा बोलता है, जो उद्धत नहीं है और धर्म को प्रकाश में लाता है, उसी का भाषण मधुर होता है।

७५. न तो अपने लाभ का तिरस्कार करे, और न दूसरों के लाभ की स्पृहा।

७६. इस नाम-रूपात्मक जगत में जिसे बिलकुल ही ममता नहीं, और जो किसी वस्तु के न मिलने पर उसके लिए शोक नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है।

७७. ध्यान में रत रहो, प्रमाद मत करो। तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में न पड़े। प्रमाद के कारण तुम्हें लोहे का लाल-लाल गोला न निगलना पड़े। और दुःख की आग से जलते समय तुम्हें यह कहकर क्रंदन न करना पड़े कि 'हाय, यह दुःख है!'

७८. जैसे जूही की लता कुम्हलाये हुए फूलों का त्याग कर देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।

७९. अपने को अपने-आप उठा, अपनी आप परीक्षा कर ! इस प्रकार तू अपनी आप रक्षा करता हुआ विचारशील हो सुखपूर्वक इस लोक में विहार करेगा।

८०. मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, आप ही अपनी गति है। इसलिए तू अपने को संयम में रख, जैसे बनिया अपने घोड़े को अपने काबू में रखता है।

८१. धर्मपूर्वक माता-पिता का भरण-पोषण करे, धर्मपूर्वक व्यवहार और वाणिज्य करे। गृहस्थों को इस प्रकार आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपना धर्म-पालन करना चाहिए।

८२. दुःख का समूल नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अत्यंत आवश्यक है।

८३. हंस, क्रौंच, मोर, हाथी और मृग, ये सभी पशु-पक्षी सिंह से भय खाते हैं। कौन शरीर में बड़ा है और कौन शरीर में छोटा यह तुलना करना व्यर्थ है।

इसी प्रकार मनुष्यों में बौने शरीर का होते हुए भी यदि कोई प्रज्ञावान् है, तो वही वास्तव में बड़ा है। भारी-भरकम शरीर के होते हुए भी मूर्ख मनुष्य को हम बड़ा नहीं कह सकते।

८४. संसर्ग होने से स्नेह उत्पन्न होता है। स्नेह से दुःख होता है। यह स्नेह ही दोष है, ऐसा समझकर गैंडा के सींग की तरह एकाकी ही रहना चाहिए।

८५. देख, यह आसक्ति है; इसमें सुख थोड़ा है, आस्वाद कम है, और दुःख अधिक। सावधान ! यह मछली फंसाने का आंकड़ा है।

८६. जैसे कोई मनुष्य किसी प्रचंड धार की नदी में उतरकर तैर

न सकने के कारण बह जाता है और दूसरों को पार नहीं उतार सकता, वैसे ही जिस मनुष्य ने धर्मज्ञान का संपादन नहीं किया और विद्वानों के मुख से अर्थपूर्ण वचन नहीं सुने, जो स्वयं ही अज्ञान और संशय में डूबा हुआ है, वह दूसरों का किस प्रकार समाधान कर सकता है ?

८७. समाधान तो वह ज्ञानी पुरुष कर सकता है, जो विद्वान, संयतात्मा, बहुश्रुत तथा अप्रकंप्य होता है, और जिसने श्रोतावधान के द्वारा निर्वाणज्ञान का संपादन किया है।

८८. तू तो निष्काम निर्वाण का चिंतन कर और अहंकारी वासना छोड़ दे। अहंकार त्याग करने पर ही तुझे सुचिर शांति मिलेगी।

८९. जो निंदनीय मनुष्य की प्रशंसा अथवा प्रशंसनीय पुरुष की निंदा करता है, वह अपने ही मुख से अपनी हानि करता है, और इस हानि के कारण उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

९०. जुए में धन गंवाने से जो हानि होती है वह कम है, किंतु सत्पुरुषों के संबंध में अपना मन कलुषित करना तो सर्वस्व-हानि से भी बढ़कर आत्म-हानि है।

९१. मूर्ख मनुष्य दुर्वचन बोलकर खुद ही अपना नाश करते हैं।

९२. जो छिछला या छिछोरा होता है, वही ज्यादा आवाज करता है, पर जो गंभीर होता है, वह शांत रहता है। मूर्ख अधभरे घड़े की तरह शोर मचाते हैं, पर प्रज्ञावान गंभीर मनुष्य सरोवर की भांति सदा शांत रहते हैं।

९३. जो संयतात्मा पुरुष सब-कुछ जानते हुए भी बोलते नहीं हैं, वे ही मुनि मौनव्रत के योग्य हैं।

९४. वह अविद्या ही महान् मोह है, जिसके कारण मनुष्य चिरकाल से संसार में पड़ा है। किंतु जो विद्यालाभी प्राणी होता है, वह बार-बार जन्म नहीं लेता।

९५. जो भी दुःख होता है, वह सब संस्कारों से ही पैदा होता है; संस्कारों के निरोध से दुःख की उत्पत्ति असंभव हो जाती है।

९६. इस सारे प्रपंच का मूल अहंकार है। इसका जड़मूल से नाश कर देना चाहिए। अहंकार के समूल नाश से ही अंतःकरण में रमनेवाली तृष्णाओं का अंत हो जाता है।

९७. अनात्मा में आत्मा है, ऐसा माननेवाले और नामरूप के बंधन में पड़े हुए इन मूढ़ मनुष्यों की ओर तो देखो, वे यह समझते हैं कि 'यही सत्य है।'

९८. वे जिस-जिस प्रकार की कल्पना करते हैं, उससे वह वस्तु भिन्न प्रकार की होती है और उनकी कल्पना झूठी ठहरती है; क्योंकि जो क्षणभंगुर होता है, वह तो नश्वर है ही।

९९. पर आर्य लोग मानते हैं कि निर्वाण अविनश्वर है और वही सत्य है, और वे सत्य-ज्ञान के बल पर तृष्णारहित होकर निर्वाण-लाभ करते हैं।

१००. जिस प्रकार सांप के फन से हम अपना पैर दूर रखते हैं, उसी प्रकार जो कामोपभोग से दूर रहता है वह स्मृतिमान पुरुष इस विष-भरी तृष्णा का त्याग करके निर्वाण-पथ की ओर अग्रसर होता है।

१०१. वासना ही जिसका उद्देश्य हो, और संसारी सुखों के बंधन में जो पड़ा हो, उसे छुड़ाना कठिन है; क्योंकि जो आगे या पीछे की आशा रखता है और अतीत या वर्तमान काल के कामोपभोग में लुब्ध रहता है, उसे कौन छुड़ा सकता है?

१०२. सोने-चांदी के लाखों-करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजा का, अग्नि का, जल का, चोर का, लुटेरे का और अपने सगे-संबंधियों तक का भय है।

१०३. श्रेष्ठ और अचंचल तो मैं इन सात धनों को मानता हूं।

श्रद्धा, शील, लज्जा, लोक-भय, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा। इस सप्तविध धन को कौन लूट सकता है और कौन छीन सकता है?

१०४. लोभ, द्वेष और मोह ये पाप के मूल हैं। अलोभ, अद्वेष और अमोह ये पुण्य के मूल हैं।

१०५. ये जो चंद्र और सूर्य आकाश-मंडल में प्रकाशित हो रहे हैं और ब्राह्मण जिन्हें नित्य स्तोत्रों के गान से रिझाते और पूजते हैं, उन चंद्र-सूर्य की ओर जाने का मार्ग क्या ये ब्राह्मण बतला सकेंगे?

जिन चंद्र-सूर्य को वे ब्राह्मण प्रत्यक्ष देख सकते हैं उन तक पहुंचने का मार्ग जब वे न जान ही सकते हैं, न बतला ही सकते हैं, तो उस ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का वे क्या उपदेश करेंगे, जिसे न उन्होंने ही कभी देखा है और न उनके आचार्यों ने ही? यदि ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का वे उपदेश करते हैं तो यह एक विचित्र ही बात है।

१०६. जो स्मृतिमान् मनुष्य अपने भोजन की मात्रा जानता है उसे अजीर्ण की तकलीफ नहीं होती। वह आयु का पालन करते-करते बहुत वर्षों के बाद वृद्ध होता है।

१०७. कोई-कोई स्त्री तो पुरुष से भी श्रेष्ठ निकलती है। यदि वह बुद्धिमती, सुशील और बड़ों का आदर करनेवाली तथा पतिव्रता हो तो उसे कौन दोष दे सकता है? उसके गर्भ से जो पुत्र जन्म लेता है वह शूर-वीर होता है। ऐसी सद्भाग्यवती स्त्री के गर्भ से जन्म लेनेवाला पुत्र साम्राज्य चलाने की पात्रता रखता है।

१०८. कृपण के धन की कैसी बुरी गति होती है? कृपण मनुष्य से उसके जीवनकाल में किसी को सुख नहीं पहुंचता, उसका इकट्ठा किया हुआ सारा धन अंत में राजा के खजाने में जाता है, या चोर लूट लेते हैं, अथवा उसके शत्रु ही उसे तिड़ी-बिड़ी कर देते हैं।

कृपण के धन की वैसी ही गति होती है, जैसी जंगल के उस तालाब की, जिसका पानी किसी के काम नहीं आता, और वह वहीं-का-वहीं सूख

जाता है।

१०६. जरा और मरण तो भारी-भारी पर्वतों से भी भयंकर हैं। हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिकों की चतुरंगिणी सेना से कहीं जरा और मृत्यु की पराजय हो सकती है? जरा और मृत्यु के घर यह भेद नहीं कि वह ब्राह्मण है और यह चांडाल।

११०. सदाचार-रत मनुष्य इस लोक में प्रशंसा पाता है, और परलोक में सद्गति।

१११. अपने हाथ से कोई अपराध हो गया हो तो उसे स्वीकार करना और भविष्य में फिर कभी वह अपराध न करना, यह आर्य गृहस्थ का कर्तव्य है।

११२. धर्म को जानकर जो मनुष्य वृद्धजनों का आदर-सत्कार करते हैं, उनके लिए इस लोक में प्रशंसा है और परलोक में सुगति।

११३. भिक्षुओ! मैं तुम्हारी सेवा न करूंगा तो कौन करेगा? यहां तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं जो तुम्हारी सेवा-सुश्रूषा करते। तुम एक-दूसरे की सेवा न करोगे, तो फिर कौन करेगा? जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी ही सेवा करता है।

११४. लोभ के फंदे में फंसा हुआ मनुष्य हिंसा भी करता है, चोरी भी करता है, परस्त्री-गमन भी करता है, झूठ भी बोलता है, और दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए प्रेरित करता है।

११५. तुम खुद अपनी आंख से देखो कि यह धर्म अकुशल है, अतः त्याज्य है; इसे हम ग्रहण करेंगे तो हमारा अहित ही होगा। अकुशल धर्म का त्याग और कुशल धर्म का ग्रहण, दोनों तुम अपनी प्रज्ञा से करो—श्रुत से या मत-परंपरा से नहीं, प्रामाण्य शास्त्रों की अनुकूलता

से या तर्क के कारण नहीं, न्याय के हेतु से या अपने चिरचिंतित मत के अनुकूल होने से नहीं और वक्ता के आकार अथवा उसके भव्य रूप से प्रभावित होकर भी नहीं।

११६. मुक्त पुरुष सदा सुख की नींद सोता है। रागादि से रहित, नितांत अनासक्त और निर्भय पुरुष आंतरिक शांति में विहार करता हुआ सुख की नींद सोता है।

११७. कटु वाक्य को सुनकर हमें उसे मन में न लाना चाहिए।

११८. हानि-लाभ को न देखकर सौ वर्ष जीने की अपेक्षा, हानि-लाभ को देखते हुए एक दिन का जीना अच्छा है।

११९. जो परवश है वह सब दुःख है। सुख तो एक स्ववशता में ही है।

१२०. मूर्ख तब तक नहीं समझता जबतक कि वह पाप में पचता नहीं। पाप में जब वह पचने लगता है, तभी उसकी समझ में आता है कि अरे! यह तो पाप-कर्म है।

१२१. हत्या का फल हत्या है, निंदा का फल निंदा है और क्रोध का फल क्रोध। जो जैसा करता है, वैसा ही फल उसे मिलता है।

१२२. रंग या रूप से मनुष्य सुज्ञेय नहीं होता। किसी को देखते ही उसपर विश्वास न कर लेना चाहिए। रूप और रंग से कितने ही मनुष्य संयमी-से मालूम होते हैं।

१२३. ऐसे मनुष्य मिट्टी के बने हुए नकली कुण्डल की तरह या सोने से मढ़े हुए तांबे के टुकड़े की तरह हैं। ऊपर से सुंदर किंतु भीतर से वे महान अशुद्ध होते हैं।

१२४. तुझे इस बात का अभ्यास करना चाहिए कि मेरे चित्त में

विकार नहीं आने पाएगा, मुंह से दुर्वचन नहीं निकालूंगा, और द्वेष-रहित हो मैत्रीभाव से इस संसार में विचरण करूंगा।

१२५. तुम्हारे लिए दो ही कर्त्तव्य हैं—एक तो धर्म-वचन का मनन और दूसरा आर्य तूष्णीभाव, अर्थात उत्तम मौन।

१२६. उनके लिए अमृत का द्वार वन्द है, जो कानों के होते हुए भी श्रद्धा को छोड़ देते हैं।

१२७. जिन जीवों के समस्त आस्रव अर्थात मल नष्ट हो जाते हैं, उन्हीं को 'जिन' कहते हैं।

१२८. परम लाभ आरोग्य है और परमसुख निर्वाण।

१२९. सत्य-प्राप्ति का उपकारी धर्म प्रयत्न है। मनुष्य प्रयत्न न करे तो फिर सत्य की प्राप्ति कहां से हो? और, प्रयत्न का उपकारी धर्म उद्योग है। विना उद्योग के मनुष्य प्रयत्न नहीं कर सकता।

१३०. उच्च कुल में जन्म लेने से लोभ थोड़ा ही नष्ट हो जाता है। उच्च कुल में जन्म लेने से न द्वेष ही नष्ट होता है और न मोह ही।

१३१. उच्च कुल में भले ही जन्म न लिया हो, किंतु यदि मनुष्य धर्ममार्ग पर आरूढ़ होकर धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है तो वह प्रशंसनीय है, पूज्य है।

१३२. जो मनुष्य अपनी उच्च कुलीनता का अभिमान करता है और दूसरों को नीची निगाह से देखता है, वह प्रवृज्या ले लेने पर भी असत्पुरुष ही कहलायेगा।

१३३. यह वृक्षों की छाया है, यह शून्य गृह है। प्रमाद मत करो, ध्यान करो।

१३४. चाहे गृहस्थ हो चाहे, संन्यासी, यदि वह मिथ्या प्रतिज्ञावाला

है, तो वह मिथ्या प्रतिपत्ति (मिथ्याचरण) के कारण कुशल धर्म का आराधक नहीं हो सकता है।

१३५. उलीचो, उलीचो, इस नाव को उलीचो ! उलीचने से तुम्हारी यह नाव हल्की हो जाएगी और तभी जल्दी-जल्दी चलेगी। राग और द्वेष का छेदन करके ही तुम निर्वाण-पद पा सकोगे।

१३६. काट डालो वासना के इस बीहड़ वन को, एक भी वृक्ष न रहने पाये। यह महाभयंकर वन है। जब वन और उसमें उगनेवाली झाड़ियों को काट डालोगे, तभी तुम निर्वाणपद पाओगे।

१३७. आत्मस्नेह को इस तरह काटकर फेंक दो जिस तरह लोग शरद ऋतु के कुमुद को हाथ से तोड़ लेते हैं। शांति के मार्ग का आश्रय लो—यह बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मार्ग है।

१३८. बुद्धके निर्दिष्ट मार्ग पर वही चल सकता है, जो मन, वचन और काया को पापों से बचाता है।

१३९. यह ब्रह्मचर्य न तो आदर-सत्कार प्राप्त करने के लिए है, न शील-संपत्ति प्राप्त करने के लिए—और न समाधि-संपत्ति या प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए है। यह ब्रह्मचर्य तो आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति अर्थात निर्वाण-पद प्राप्त करने के लिए है। आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का सार है, और यही ब्रह्मचर्य-व्रत का पर्यवसान भी है।

१४०. जिस श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग, ये चार गुण हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

१४१. वही बात बोलनी चाहिए, जिससे अपने को संताप न हो, और जिससे किसी को दुःख न पहुंचे। यही सुभाषित वाक्य है।

१४२. प्रिय वही बात बोलनी चाहिए, जो आनंददायक हो, और ऐसा न हो कि दूसरे के लिए प्रिय बात बोलने से पाप लगे।

१४३. सत्य अमृतवाणी है, वही सनातन नियम है।

१४४. संतों ने कहा है कि सुभाषित वाक्य ही उत्तम है। धर्म की बात कहना, अधर्म की न कहना यह दूसरा सुभाषण है। प्रिय बोलना, अप्रिय न बोलना, यह तीसरा सुभाषण है। सत्य बोलना, असत्य न बोलना, यह चौथा सुभाषण है।

१४५. भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो; बहुजन के हित के लिए; बहुजन के सुख के लिए; देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो! कोई भिक्षु एक तरफ न जाना। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो, जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है, और अन्त में भी कल्याणकारी है।

---

१. ध. प. (पुप्फवग्गो) २—४ ध. प. (बालवग्गो) ५—६ ध. प. (पंडितवग्गो) ७—६ ध. प. (सहस्सवग्गो) १०—११ ध. प. (पापवग्गो) १२—१३ ध. प. (अत्तवग्गो) १४—१६ ध. प. (लोकवग्गो) १७ ध. प. (बुद्धवग्गो) १८—२३ ध. प. (सुखवग्गो) २४—२५ ध.

प. (कोधवग्गो) २९—३५ ध. प. (मलवग्गो) ३६—४७ ध. प. (धम्मट्ठवग्गो) ४८—५३ (पकिण्णक वग्गो) ५४—५८ ध. प. (निरय-वग्गो) ५९—६२ ध. प. (पुप्फवग्गो) ६३—६५ ध. प. (यमकवग्गो) ६६—६८ ध. प. (बाल वग्गो) ६९. ध. प. (अर्हंतवग्गो) ७०. ध. प. (सहस्सवग्गो) ७१ ध. प. (पापवग्गो) ७२ ध. प. (नागवग्गो) ७३—८० ध. प. (भिक्खुवग्गो) ८१. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ८२—८३ सु. नि. (निदानवग्गो) (भिक्खु संयुग) ८४—८५ सु. नि. (खग्ग-विषाण सुत्त) ८६—८७ सु. नि. (नावा सुत्त) ८८—९१ सु. नि. (कोकालिक सुत्त) ९२—९३ सु. नि. (नालक सुत्त) ९४—९५ सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १०० सु. नि. (काम सुत्त) १०१ सु. नि. (गुहट्ठक सुत्त) १०२ सु. नि. (दुठ्ठट्ठक सुत्त) १०३ अं. नि. (धनसुत्त) १०४ अं. नि. (कालाम सुत्त) १०५. दी. नि. (तेविज्ज सुत्त) १०६—११० बु. ली. सा. सं. (कोसल संयुत्त) १११. दी नि. (सामञ्ञफल सुत्त) ११२. बु. च. (अनाथपिंडक दीक्षा) ११३ बु. च. (पृष्ठ ३३८) ११४—११५. अं नि. (३. ७. ५.) ११६. अं. नि. (३. ४. ५.) ११८. ध. प. ११९. बु. च. (विसाख सुत्त) १२०—१२१. बु. च. (संगाय सुत्त) १२२—१२३. अं. नि. (३. २. १.) १२४. म. नि. (ककचूपमसुत्तंत) १२५—१२७. म. नि. (पासरासि सुत्तंत) १२८. म. नि. (मागंदिय सुत्तंत) १२९. म. नि. (चकि सुत्तंत) १३०—१३१ म. नि. (सधुरिस धम्म सुत्तंत) १३३. नि. (आनंज सप्पाव सुत्तंत) १३४ स. नि. (सुभ सुत्तंत) १३५ ध. प. (भिक्खुवग्गो) १३६—१३८ ध. प. (मग्ग वग्गो) १३९. म. नि. (महासारोपम सुत्त) १४०. सु. नि. (आल-वक सुत्त) १४१—१४५ सु. नि. (सुभासित सुत्त) १४५. अ. नि. (४१. ४)।

कोश

अकुशल =पाप; दुष्कृत्य

अकंप्य =स्थिर

अनागामी =कामवासना और क्रोध इन दो संयोजनों का सम्पूर्णतया उच्छेद करनेवाला श्रमण

अनादान =अपरिग्रह

अनुत्तर =जिससे उत्तम कोई दूसरा न हो

अनुशय =मल

अभिज्ञा =दिव्य ज्ञान

असपत्न =जिसका कोई प्रतिस्पर्धी अथवा शत्रु न हो

असमाहित =समाधिरहित; अशांत

अष्टांगिक मार्ग =आठ अंगों वाला मार्ग। आठ अंग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इसे 'मध्यमा प्रतिपदा' भी कहते हैं।

आयतन =आश्रय; बौद्ध दर्शन में आयतन दो प्रकार के हैं—आध्यात्मिक या आंतरिक और बाह्य। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन, ये अध्यात्मिक आयतन हैं। और रूप, रस, शब्द, गंध, स्पर्श और धर्म ये बाह्य आयतन हैं।

आर्यसत्य =उत्तम सत्य जो चार प्रकार का है—दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग।

आस्रव =मल; प्रवाह

आर्हत =अर्हत का धर्म

उपेक्षा =मध्यस्थता, तीसरा बोध्यंग

उपोसथ =व्रत का दिन

ओघ	=भवसागर; संसार-प्रवाह
अंत	=अतिसीमा
ऋद्धिपाद	=असाधारण क्षमता या दिव्यशक्ति
कषाय	=मल
कुशल	=पुण्य; सत्कर्म
कोश	=पुनर्जन्म देनेवाला कर्म
छंद	=राग
दांत	=जिसने इंद्रियों का संपूर्णतया दमन कर लिया है
दौर्मनस्य	=दुर्मनता; मानसिक दुःख
परिदेव	=रोना-विलपना
पंचोपादन	=पांच अभिनिवेश, जो ये हैं—रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान
प्रतिपत्ति	=मार्ग
प्रधान	=प्रयत्न, निर्वाणसंबंधी प्रयत्न
प्रविचय	=संग्रह, अन्वेषण
प्रवृज्या	=संन्यास
प्रश्रब्धि	=शांति; एक बोध्यंग
बोध्यंग	=निर्वाण-ज्ञान के अंग जो सात हैं—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा
मार	=शैतान
रति	=सुखोपभोगों के पदार्थों में आसक्ति
वितर्क	=मिथ्या संकल्प
विज्ञान	=चित्त की धारा
वीर्य	=उद्योग, मनोबल
वृषल	=चांडाल
वेदना	=इंद्रिय और विषय के एक साथ मिलने के बाद चित्त में जो दुःख-सुख आदि विकार उत्पन्न होता है उसे वेदना कहते हैं।

व्यापाद =क्रोध

शासन =शिक्षा; धर्म

शास्ता =गुरु

शीलव्रत =श्रमण संन्यासी के आचार-व्रत सुनना

श्रावक =गृहस्थ

श्रोतावधान =श्रद्धा और प्रज्ञापूर्वक

समाहित =एकाग्र

संबोधि =परम ज्ञान, मोक्षज्ञान

संयोजन =मन का बंधन

संज्ञा =इंद्रिय और विषय के एक साथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह अमुक विषय है', इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।

स्कंध =समुदाय

●●●
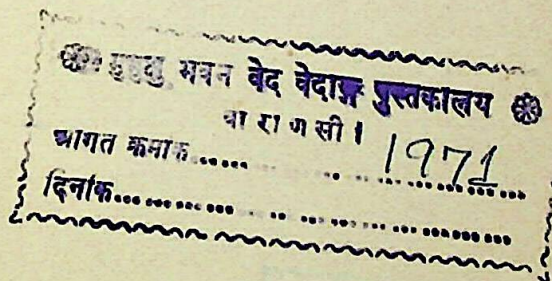
'मंडल' का

धर्म-अध्यात्म साहित्य

□

गीता माता
अनासक्ति योगं
गीता-बोध
गीता पदार्थ कोश
गीता की महिमा
भागवत कथा
भगवद्गीता
विष्णुसहस्रनाम
संत सुधासार
भगवान हमारा मित्र
गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
कबीरसाहब की सुबोध साखियां
रहीम के सुबोध दोहे
गिरिधर की सुबोध कुंडलियां
बुद्ध-वाणी

□ □